दस्तावेज

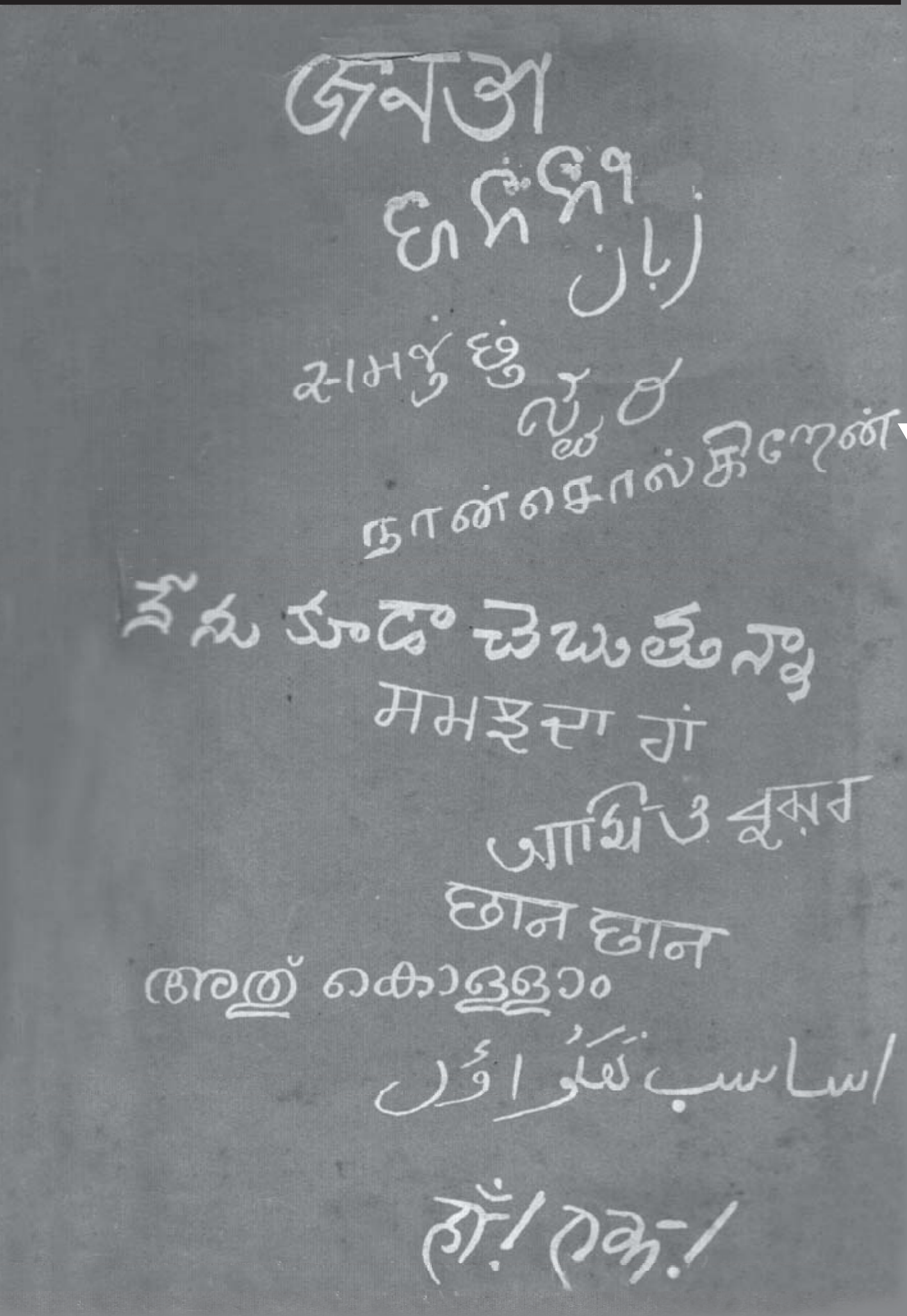

भाषा बोली

23 मार्च 2018

वाराणसी

अंग्रेजी हटाओ
भारतीय भाषा बचाओ
सम्मेलन 2018

स्मारिका

अंग्रेजी हटाओ, भारतीय भाषा बचाओ सम्मेलन के प्रस्ताव

1. यह सम्मेलन प्रस्तावित करता है कि लोक भाषाएँ/भारतीय भाषाएँ सार्वजनिक संवाद के लिए चलन में लायी जाँय। सम्मेलन की दृढ़ मान्यता है कि लोकभाषाएँ संवाद के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हैं और सभी प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए सक्षम हैं। ये भाषाएँ भाषा के सभी प्रकार्यों के लिए अंग्रेजी की तुलना में अधिक संवेदनशील और अर्थग्राही हैं। अंग्रेजी हिन्दुस्तान पर बोझ है और वह कभी भी हमारे ज्ञान की भाषा नहीं बन सकती। हमने लम्बे समय तक लोकभाषाओं को उपेक्षित रखा है जिसके कारण समाज में अवस्थित ज्ञान, ज्ञानकर्म और ज्ञानसंवाद इन तीनों की उपेक्षा हुई है। इस वजह से जनसमाज की प्रतिष्ठा होने से रह गयी। जनसमाज को प्रतिष्ठित करने का एकमात्र रास्ता लोकभाषाओं को पहचान देना और उनमें निहित ज्ञान के स्रोतों को एकजुट करना है। लोकभाषा से सम्मेलन का आशय क्षेत्र-विशेष में अधिकांश लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा से है। हिन्दुस्तान में अधिकांश राज्य भाषा-विशेष के आधार पर बने हैं। सम्मेलन भारतीय भाषा/लोकभाषा की संवादी-शक्ति पर विश्वास करता है और नयी पीढ़ी को इसके प्रति आग्रही बनाना चाहता है।

   सम्मेलन यह मानता है कि भाषा मनुष्य के रचनाधर्म, कर्म, चिंतन और संवाद में अवस्थित होती है। यह जीवन की प्रत्येक क्रिया के साथ गुँथी हुई है। मनुष्य जिसे 'निजभाषा' मानता है वह उसकी आबोहवा से उपजी होती है। उसका एक परिवेश होता है, जो भाषा 'निजभाषा' से भाईचारा नहीं रखती वह नकलची बनाती है। उसमें मौलिक सृजन, चिंतन, ज्ञानसंवाद सम्भव नहीं। वह थोपी हुई होती है। अंग्रेजी भारतीय आबोहवा से न उपजी है और न यहाँ इसकी कोई भूमि है। अतः यह 'सार्वजनिक संवाद' के लिए उपयुक्त भाषा नहीं है।

2. यह सम्मेलन इस बात की माँग करता है कि भारतीय भाषाओं को ही शिक्षा का माध्यम बनाया जाय। साथ ही इस बात की वकालत भी करता है किअंग्रेजी या कोई विदेशी भाषा शिक्षा का माध्यम न बने। प्राथमिक व उच्च शिक्षा प्रत्येक भारतीय भाषा में सम्भव है। विज्ञान की शिक्षा, न्याायलयी शिक्षा, समाजविज्ञान की शिक्षा और कलाओं की शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषा हो, अंग्रेजी नहीं। अंग्रेजी भाषा और साहित्य का अध्ययन भी अनिवार्य विषय न बनाया जाय अपितु ऐच्छिक रहे।

   इसलिए यह सम्मेलन इन बिन्दुओं पर आग्रही है क्योंकि यदि हमें भारतीय भाषाओं को बचाना है तो उन्हें शिक्षा का माध्यम स्वीकारना ही पड़ेगा। यह तय है कि भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाए हम किसी एक भाषा में ज्ञान के उच्चतर रूपों को नहीं प्राप्त कर सकते। भाषा की शक्ति शिक्षा का माध्यम बनाने से संवर्धित होती है और वह लम्बे समय तक विकास करती है।

   भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने से लोकविद्या का सीधा उपयोग विश्वविद्यालयी विद्या के संवर्धन में हो सकेगा जो लोकभाषाओं तथा लोक में बिखरी पड़ी है। हमारे सामने दुनिया के तमाम देश उदाहरण के रूप में पड़े हैं जो अपनी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाए हुए हैं और मौलिक ज्ञान के सृजन में हमसे बहुत आगे हैं। इजरायल इसका बड़ा उदाहरण है। वहाँ विश्वस्तरीय शोध-पत्र हिब्रू में लिखे जाते हैं और उन पर वैज्ञानिक समूह हिब्रू में ही बहस करते हैं। चीन, जापान, कोरिया, रूस आदि देश इसके दूसरे उदाहरण हैं। ऐसे देशों की लम्बी सूची है जो अपनी भाषा को शिक्षा और शोध का माध्यम बनाए हुए हैं और उनके यहाँ हिन्दुस्तान से अच्छे शैक्षिक संस्थान हैं।

3. यह सम्मेलन सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों से अंग्रेजी का मोह छोड़ने का आग्रह करता है। यह सम्मेलन इन न्यायिक स्तम्भों से प्रार्थना करता है कि भारतीय भाषाओं को न्याय की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का अभ्यास करें जो उनके लिए सहज है। ऐसा करने से न्यायिक सेवा क्षेत्र और विधि विश्वविद्यालय/विभाग भारतीय भाषाओं में काम करने लगेंगे जिससे इन क्षेत्रों में मौलिक सर्जना हो सकेगी और भारतीय भाषाओं का क्षेत्र विस्तृत होगा। लम्बे समय से यह माँग उठ रही है कि जनता की भाषा में न्याय प्राप्त हो ताकि जनता सीधे न्यायालय से जुड़ सके।

   सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय का अंग्रेजी मोह और भारतीय भाषाओं की उपेक्षा से बार-बार नये संकट खड़े हो रहे हैं। इसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त है जो नीट परीक्षा से जुड़ा है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयानुसार नीट का माध्यम अंग्रेजी और हिन्दी है। भारतीय भाषाओं यानी तमिल आदि में परीक्षा की सुविधा न्यायालय के निर्णय के आधार पर समाप्त कर दी गयी। तमिलनाडु की एक दलित लड़की एस. अनीता ने यह परीक्षा अंग्रेजी माध्यम में दी और असफल रही। उसने तमिल माध्यम में विज्ञान की पढ़ाई किया था और उसे 1200 में 1176 अंक माध्यमिक परीक्षा में प्राप्त हुए। उसका कहना था कि यदि परीक्षा तमिल में होती तो वह असफल नहीं होती। उसका असंतोष इतना बढ़ा कि उसने आत्महत्या कर लिया। इसे लेकर दक्षिण में एक आंदोलन खड़ा हो गया। इसलिए यह सम्मेलन न्यायालयों से दुबारा निवेदन कर रहा है कि वे भारतीय समाज को उसकी भाषा देकर अंगेरजी की दासता से मुक्त करें।

(शेष कवर पृष्ठ 3 पर)

भाषा-बोली

(अंग्रेजी हटाओ, भारतीय भाषा बचाओ सम्मेलन की स्मारिका)

सम्पादक :

लोलार्क द्विवेदी

प्रकाशक :

आयोजन समिति

अंग्रेजी हटाओ, भारतीय भाषा बचाओ सम्मेलन

अफ़लातून (संयोजक,8004085923), विजय नारायण (9838380370), सुरेंद्र प्रताप (9415228569), योगेंद्र नारायण (9936520837), सोमनाथ त्रिपाठी (941522940), लोलार्क द्विवेदी (9839575796), सुनील सहस्त्रबुद्धे (8838944822), विजेंदर मीना (9461632988), चौधरी राजेन्द्र (9415294653) महेश विक्रम (कोषाध्यक्ष,9415353120) आदि।

<u>सम्पादकीय</u>

अंग्रेजी हटेगी और हटकर रहेगी

अंग्रेजी हटाओ, भारतीय भाषा बचाओ सम्मेलन इस विश्वास के साथ हो रहा है कि अब अंग्रेजी को हटाना है और किसी भी कीमत पर इसे देश के बाहर फेंकना है। वाराणसी में अंग्रेजी हटाओ आंदोलन सन् 1967 में शीर्ष पर था। यों तो इसकी शुरुआत सन् 1959 में हो चुकी थी और राममनोहर लोहिया के नेतृत्व में अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन की स्थापना कर दी गई थी। स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में देश के महापुरुषों और भाषाविदों ने एकमत से यह संकल्प पारित किया था कि आजादी के बाद अंग्रेजी देश में नहीं रहेगी उसका स्थान भारतीय भाषाएँ लेंगी। स्वतंत्रता की पूरी लड़ाई भारतीय भाषाओं ने लड़ी है। यह हमें कभी भूलना नहीं चाहिए। इस प्रकार यह सम्मेलन अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन के 50 वर्ष पूरे होने पर हो रहा है। विडम्बना यह है कि अंग्रेजी हटाने का आजादी का स्वप्न पूरा नहीं हुआ है। इसके विपरीत वह पूरे देश में छा गयी है और उसका साम्राज्य कायम हो चुका है।

यह स्थिति तब है जब कि यह आमजन की भाषा नहीं है। देश के किसी हिस्से में बोली नहीं जाती। यह सत्ता की कारगुजारियों से जनता को दूर रखने के सत्ताधारी षड़यन्त्र की भाषा है। जनता से जुड़े सभी शासकीय निकाय इसका प्रयोग इसलिए करते हैं कि लोक से उनकी दूरी बनी रहे, लोक और तन्त्र के बीच आभिजात्य कायम रहे।

अंग्रेजी का माध्यम शिक्षा को व्यापार में तब्दील करने का एक साधन बन चुका है। इस माध्यम के शिक्षण संस्थान गाँव-गाँव, जंगल-जंगल फैल चुके हैं। नागरिक संस्थान तो पूरी तरह अंग्रेजीमय हो चुके हैं। भाषा के रूप में अंग्रेजी मजदूरों से लेकर सुदूर आदिवासियों तक के लिए शोषण की भाषा बन चुकी है। अपने ही देश में भारतीय भाषाएँ पराई हो चुकी हैं और साहित्यिक दायरे तक सिमट चुकी हैं। अंग्रेजी भाषा को सामाजिक प्रतिष्ठा और गतिशीलता से जोड़ना भारतीय भाषाओं के लिए अभिशाप बन चुका है। देशी भाषाभाषी समाज अंग्रेजी के आतंक का शिकार है और उसमें सघन कुंठा व्याप्त हो गयी है। भूमण्डलीकरण के बाद अंग्रेजी का वर्चस्व हमारे देश में पूरी तरह कायम हो गया है और भारतीय भाषाएँ अस्तित्व-संकट से गुजर रही हैं तथा एक-एक कर दम तोड़ रही हैं। इस दौर में समाज ने अंग्रेजी को अपार स्वीकृति दी है। अब यह स्वीकृति सत्ता वर्ग तक सीमित नहीं रही। एक नई खिचड़ी भाषा के माध्यम से उसे स्थापित किया जा रहा है। समाज बाजार की भाषा को अपनी भाषा समझने लगा है। यही भाषा अखबार, सिनेमा, और अन्य माध्यमों की भाषा बन चुकी है। जनता की भाषिक अभिरुचि को बदलने का सत्तावादी षड़यंत्र तेजी से काम करने लगा है और उसमें उसे अकूत सफलता तथा स्वीकृति मिली है।

कम्प्यूटरीकरण के चलते सत्ता वर्ग को अंग्रेजी के महाभियान को गति देने की सुविधा मिल गई है। तकनालॉजी के रथ पर सवार अंग्रेजी भारतीय भाषाओं का संहार कर रही है। अतः परिस्थिति तब तक नहीं बदल सकती जब तक अंग्रेजी सार्वजनिक जीवन से बेदखल नहीं हो जाती। अंग्रेजी को साथ रखकर भारतीय भाषाओं का विकास असंभव है। हमने 70 वर्षों तक अंग्रेजी को साथ रखकर देख लिया है और आज परिणाम यह है कि वही विश्वभाषा, ज्ञान की भाषा जैसी उपाधियाँ ग्रहण करके हमारी भाषाओं को पीछे धकेल चुकी है। हमारे में अनेक प्रकार के अंधविश्वास पैदा कर चुकी है।

अंग्रेजी के इस महाघटाटोप के बीच एक बात यह हुई है कि देश में जगह-जगह भाषाई आन्दोलन प्रारम्भ हो चुके हैं। अंग्रेजी वर्चस्व का विरोध और निज भाषा को बचाने की मनसा अंग्रेजी के अश्वमेध के सामने खड़ी हो चुकी है। पंजाबी के लिए जोगा सिंह, उड़िया के लिए वैष्णव परिडा, हिन्दी के लिए अमरनाथ के अलावा मलयालम, बांग्ला, उर्दू, गुजराती, राजस्थानी, कन्नड़ आदि भाषा क्षेत्रों में एक आंदोलन खड़ा हो गया है। इन भाषाई आंदोलनों का समन्वय कर हम अंग्रेजी को चलने नहीं देंगे। अंग्रेजी हटेगी और हटकर रहेगी।

वाराणसी सम्मेलन की स्मारिका भाषा-बोली में दस्तावेज के अंतर्गत दिए गए लेखों से महत्वपूर्ण भाषा-चिंतकों के विचार प्रकट हुए हैं। अंग्रेजी हटाओ आंदोलन का इतिहास एक बार फिर सबके सामने आ रहा है। मातृभाषा और लोकभाषा की अनिवार्यता को नये ढंग से समझाने वाले लेख इस स्मारिका की उपलब्धि हैं। एक लेख में आर्यभाषा और द्रविड़ भाषा के विभाजन को मिटाकर भारतीय भाषा की एकता को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। समाजवादी साथी विजय नारायण की प्रेरणा तथा साथी योगेन्द्र नारायण और अफलातून की मंत्रणा से यह सब संभव हो सका है।

ओमनाथ द्विवेदी

संपादक

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापना के अवसर पर महात्मा गाँधी का भाषण

❑ *मोहदास करमचंद गाँधी जी*

फरवरी 6, 1916

1915 में दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश लौटने के बाद महात्मा गाँधी की यह प्रथम सार्वजनिक वक्तृता थी। इस व्याख्यान से राममनोहर लोहिया तथा विनोबा अत्यन्त प्रभावित हुए। ''इस व्यक्ति के विचारों में मुझे बंगाल की क्रांति तथा हिमालय की शांति का समन्वय दिखा'', विनोबा ने कहा। –सं.

दोस्तो, यहाँ आते हुए मुझे रास्ते में बहुत देर लग गई। मैं इसके लिए क्षमा-याचना करता हूँ। आप मुझे खुशी से माफ भी कर देंगे क्योंकि इस देरी के लिए न मैं जिम्मेदार हूँ न कोई और आदमी (हँसी); सच कहो तो मैं पिंजरे का जानवर हूँ और मेरी देखरेख करने वाले लोग अत्यधिक ममता के कारण जीवन के एक महत्त्वपूर्ण पहलू अर्थात् शुद्ध संयोग की बात को भूल जाते हैं। इस बार भी हम लोग, मैं, मेरे निरीक्षक और मुझे उठाकर चलने वालों को एक के बाद एक जिन दुर्घटनाओं का सामना करना पड़ा, उसकी पूर्व कल्पना करके तो कोई इन्तजाम नहीं किया गया था; इसलिए इतनी देरी हो गई।

दोस्तो, अभी-अभी जो महिला भाषण देकर बैठी है उनकी अद्‌भुत वाक्शक्ति के प्रभाव में आकर आप लोग कृपया इस बात पर विश्वास न कर लें कि जो विश्वविद्यालय अभी तक पूरा बना और उठा भी नहीं वह कोई परिपूर्ण संस्था है; और अभी जो विद्यार्थी यहां आये तक नहीं हैं वे शिक्षा-सम्पादन करके यहां से एक महान् साम्राज्य के नागरिक होकर निकल चुके हैं। मन पर ऐसी कोई छाप लेकर आप लोग यहाँ से न जायें और जिनके सामने आज मैं बोल रहा हूँ वे विद्यार्थीगण तो एक क्षण के लिए भी इस बात को मन में जगह न दें कि जिस आध्यात्मिकता के लिए इस देश की ख्याति है और जिसमें उसका कोई सानी नहीं है उस आध्यात्मिकता का संदेश बातें बघार कर दिया जा सकता है। अगर आपका ऐसा कुछ खयाल हो तो मेहरबानी करके मेरी इस बात पर भरोसा कीजिए कि आपका वह खयाल गलत है। मुझे आशा है कि किसी-न-किसी दिन भारत संसार को यह सन्देश देगा; किन्तु केवल वचनों के द्वारा वह सन्देश कभी नहीं दिया जा सकेगा। मैं भाषणों और तकरीरों से ऊब गया हूँ। अलबत्ता पिछले दो दिनों में यहाँ जो भाषण दिये गये उन्हें मैं इस तरह की तकरीरों से अलग मानता हूँ; क्योंकि वे जरूरी थे। फिर भी मैं यह कहने की धृष्टता कर रहा हूँ कि हम भाषण देने की कला के लगभग शिखर पर जा पहुँचे हैं और अब आयोजनों को देख लेना और भाषणों को सुन लेना ही पर्याप्त नहीं माना जाना चाहिए; अब हमारे मनों में स्फुरण होना चाहिए और हाथपाँव हिलने चाहिए। पिछले दो दिनों में यहाँ जो भाषण दिये गये यदि उनमें लोगों की परीक्षा ली जाये और मैं परीक्षक होऊँ तो निश्चित है कि ज्यादातर लोग फेल हो जायें। क्यों? इसलिए कि इन व्याख्यानों ने उनके हृदय नहीं छुए। मैं गत दिसम्बर में राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन में मौजूद था। वहाँ बहुत अधिक तादाद में लोग इकट्‌ठा हुए थे। आपको ताज्जुब होगा कि बम्बई के वे तमाम श्रोता केवल उन भाषणों से प्रभावित हुए जो हिन्दी में दिये गये थे। ध्यान दीजिए यह बम्बई की बात है, बनारस की नहीं, जहाँ सभी लोग हिन्दी बोलते हैं। बम्बई प्रान्त की भाषाओं और हिन्दी में उतना फर्क नहीं है जैसा अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं में है; और इसलिए वहाँ के श्रोता हिन्दी में बोलने वाले की बात ज्यादा आत्मी भाव से समझ सके। मुझे आशा है कि इस विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों को उनकी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जायेगा। हमारी भाषा हमारा ही प्रतिबन्ध है और इसलिए यदि आप मुझसे यह कहें कि हमारी भाषाओं में उत्तम विचार अभिव्यक्त किये ही नहीं जा सकते तब तो हमारा संसार से उठ जाना अच्छा है। क्या कोई व्यक्ति स्वप्न में भी यह सोच सकता है कि अंग्रेजी भविष्य में किसी भी दिन भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है? (''नहीं, नहीं'' की आवाजें) फिर राष्ट्र के पाँवों में बेड़ी किस लिए? जरा सोचकर देखिए कि अंग्रेजी भाषा में अंग्रेज बच्चों के साथ होड़ कराने में हमारे बच्चों पर कितना वजन पड़ता है। पूना के कुछ प्रोफेसरों से मेरी बात हुई। उन्होंने बताया कि चूँकि हर भारतीय विद्यार्थी को अंग्रेजी के मारफत ज्ञान-सम्पादन करना पड़ता है, इसलिए

उसे अपनी जिन्दगी के वेश-कीमती बरसों में कम-से-कम छः वर्ष अधिक जाया करने पड़ते हैं। हमारे स्कूलों और कालेजों से निकलनेवाले विद्यार्थियों की संख्या में इस छः का गुणा कीजिए और फिर देखिए कि राष्ट्र के कितने हजार वर्ष बरबाद हो चुके हैं। हम पर आरोप लगाया जाता है कि हममें पहल करने का माद्दा नहीं है। हो भी कैसे सकता है? यदि हमें एक विदेशी भाषा पर अधिकार पाने के लिए जीवन के अमूल्य वर्ष लगा देने पड़ें तो फिर और हो क्या सकता है? और तो और हम इसमें भी सफल नहीं हो पाते। श्री हिगिनबॉटम ने श्रोताओं को जितना प्रभावित किया क्या कल और आज बोलने वालों में एक भी अन्य वक्ता उतना प्रभावित कर सका? यह उन बोलने वालों का कसूर नहीं था। सामग्री तो उनके भाषणों में भरपूर थी; लेकिन उनके भाषणों ने हमारा मन नहीं पकड़ा। कहा जाता है कि आखिरकार भारत के अंग्रेजीदाँ ही देश का नेतृत्व कर रहे हैं और वे ही राष्ट्र के लिए सब-कुछ कर रहे हैं। अगर इससे विपरीत बात होती तो वह और भी भयानक होती; क्योंकि हमें शिक्षा का नाम पर केवल अंग्रेजी शिक्षा ही तो मिलती है। शिक्षा का कुछ-न-कुछ परिणाम तो निकलता ही है। किन्तु मान लीजिए हमने पिछले पचास वर्षों में अपनी-अपनी भाषाओं के जरिए शिक्षा पायी होती; तो हम आज किस स्थिति में होते? तो आज भारत स्वतंत्र होता; तब हमारे पढ़े-लिखे लोग अपने ही देश में विदेशियों की तरह अजनबी न होते बल्कि देश के ह्रदय को छूने वाली वाणी बोलते; वे गरीब से गरीब लोगों के बीच काम करते और पचास वर्षों की उनकी उपलब्धि पूरे देश की विरासत होती। (तालियाँ) आज तो हमारी अर्धांगिनियाँ भी हमारे श्रेष्ठ विचारों की भागीदार नहीं हैं। प्रो0 बसु और प्रो0 राय तथा उनके शानदार आविष्कारों को ही लीजिए। क्या यह लज्जा की बात नहीं है कि जनता का उनसे कुछ लेना-देना नहीं है? अब हम दूसरी बात लें। कांग्रेस ने स्वराज्य के बारे में एक प्रस्ताव पास किया है। यों तो मुझे विश्वास है कि अखिल भारतीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग अपना कर्त्तव्य करेंगी और कुछ-न-कुछ ठोस सुझावों के साथ सामने आयेंगी; किन्तु जहाँ तक मेरा सवाल है मैं स्पष्ट ह्रप से यह बात स्वीकार करना चाहता हूँ कि मुझे इस बात में उतनी दिलचस्पी नहीं है कि वे क्या-कुछ कर पाती हैं, जितनी इस बात में है कि विद्यार्थी-जगत् क्या करता है या जनता क्या करती है। कोई भी कागजी कार्रवाई में स्वराज्य नहीं दे सकता। धुआँधार भाषण हमें स्वराज्य के योग्य नहीं बना सकते। वह तो हमारा अपना आचरण है जो हमें उसके योग्य बनायेगा। (तालियाँ)। सवाल यह है कि हम अपने पर किस प्रकार राज्य करना चाहते हैं? मैं आज भाषण नहीं देना चाहता, श्रव्य ह्रप में सोचना चाहता हूँ। यदि आज आपको ऐसा लगे कि मैं असंयत होकर बोल रहा हूँ तो कृपया मानिए कि कोई आदमी जोर-जोर से बोलता हुआ सोच रहा है और वही आप सुन पा रहे हैं। और यदि आपको ऐसा जान पड़े कि मैं शिष्टाचार की सीमा का उल्लंघन कर रहा हूँ तो कृपया उस स्वच्छन्दता के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे। कल शाम मैं विश्वनाथ के दर्शनों के लिए गया था। उन गलियों में चलते हुए मेरे मन में खयाल आया कि यदि कोई अजनबी एकाएक ऊपर से इस मन्दिर पर उतर पड़े और यदि उसे हम हिन्दुओं के बारे में विचार करना पड़े तो क्या हमारे बारे में कोई छोटी राय बना लेना उसके लिए स्वाभाविक न होगा? क्या यह महान् मन्दिर हमारे अपने आचरण की ओर उँगली नहीं उठाता? मैं यह बात एक हिन्दू की तरह बड़े दर्द के साथ कह रहा हूँ। कह रहा हूँ। क्या यह कोई ठीक बात है कि हमारे पवित्र मन्दिर के आसपास की गलियाँ इतनी गन्दी हों? उसके आसपास जो घर बने हुए हैं वे बे-सिलसिले और चाहे-जैसे हों। गलियाँ टेढ़ी-मेढ़ी और सँकरी हों। अगर हमारे मन्दिर भी सादगी और सफाई के नमूने न हों तो हमारा स्वराज्य कैसा होगा? चाहे खुशी से चाहे लाचारी से अंग्रेजों का बोरिया-बसना बँधते ही क्या हमारे मन्दिर पवित्रता, स्वच्छता और शान्ति के धाम बन जायेंगे?

मैं कांग्रेस के अध्यक्ष से इस बात में सहमत हूँ कि स्वराज्य की बात सोचने के पहले हमें बड़ी मशक्कत करनी पड़ेगी। हमारे यहाँ हर शहर के दो हिस्से होते हैं; बस्ती खास और छावनी। बस्ती को अक्सर एक बदबूदार गन्दी कोठरी समझिए। यह ठीक है कि हम शहरों की जिन्दगी के आदी नहीं हैं। लेकिन जब शहरी जिन्दगी की हमें जह्ररत ही है तो उसे हम अपने लापरवाह ग्राम्य-जीवन का प्रतिबिम्ब तो नहीं बना सकते। बम्बई की जिन गलियों में भारतीय रहते हैं वहाँ राहगीर को यह धुकधुकी लगी ही रहती है कि कहीं कोई ऊपर की मंजिल से उन पर पीक न छोड़ दे। यह बड़ी विचारणीय परिस्थिति है। मैं काफी रेल-यात्रा करता हूँ। तीसरे दर्जे के यात्री की तकलीफों पर ध्यान जाता है। किन्तु इन सभी तकलीफों की जिम्मेदारी रेलवे के अधिकारियों के ऊपर नहीं मढ़ी जा सकती। यह जानते हुए भी कि डिब्बे का फर्श अकसर सोने के काम में बरता जाता है हम उस पर जहाँ-तहाँ थूकते रहते हैं। हम जरा भी नहीं सोचते कि हमें वहाँ क्या फेंकना चाहिए, क्या नहीं; और नतीजा यह होता है कि सारा डिब्बा गन्दगी का अवर्णनीय नमूना बन जाता है। जिन्हें कुछ ऊँचे दर्जे का माना जाता है, वे अपने से कम भाग्यशाली अपने भाइयों के साथ डाँट-डपट का व्यवहार करते हैं। विद्यार्थी-वर्ग को भी मैंने ऐसा करते पाया है। वे

भी (गरीब) सहयात्रियों के साथ (कुछ अच्छा) व्यवहार नहीं करते। वे अंग्रेजी बोल सकते हैं और नारफॉक जाकिटें पहने होते हैं और इसलिए वे अधिकार जताकर डिब्बे में घुस जाते हैं और बैठने की जगह ले लेते हैं। मैंने हर अँधेरे कोने को मशाल जलाकर देखा; और चूँकि आपने मुझे बातचीत करने की यह सुविधा दी है, मैं अपना मन आपके सामने खोल रहा हूँ। स्वराज्य की दिशा में बढ़ने के लिए हमें बिना शक ये सारी बातें सुधारनी चाहिए। अब मैं आपको दूसरी जगह ले चलता हूँ। जिन महाराजा महोदय ने कल की हमारी बैठक की अध्यक्षता की थी, उन्होंने भारत की गरीबी की चर्चा की। दूसरे वक्ताओं ने भी इस बात पर बड़ा जोर दिया। किन्तु जिस शामियाने में वाइसरॉय द्वारा शिलान्याससमारोह हो रहा था वहाँ हमने क्या देखा। एक ऐसा शानदार प्रदर्शन, जड़ाऊ गहनों की ऐसी प्रदर्शनी, जिसे देखकर पेरिस से आने वाले किसी जौहरी की आँखें भी चौंधिया जातीं। जब मैं गहनों से लदे हुए उन अमीर-उमरावों को भारत के लाखों गरीब आदमियों से मिलाता हूँ तो मुझे लगता है कि मैं इन अमीरों से कहूँ, जब तक आप अपने ये जेवरात नहीं उतार देते और उन्हें गरीबों की धरोहर मानकर नहीं चलते तब तक भारत का कल्याण नहीं होगा। (हर्षध्वनि और तालियाँ) मुझे यकीन है कि सम्राट् अथवा लॉर्ड हार्डिज के प्रति वास्तविक राजभक्ति दिखाने के लिए किसी का गहनों के सन्दूक उलटकर सिर से पाँव तक सजकर आना जरूरी नहीं समझते। अगर आप चाहें तो मैं जान की बाजी लगाकर महाराज जॉर्ज पंचम का सन्देशा आपको लाकर दे दूँ कि वे यह नहीं चाहते। भाइयो, जब कभी मैं सुनता हूँ कि कहीं, फिर वह ब्रिटिश भारत में हो चाहे हमारे बड़े-बड़े राजाओं और नवाबों द्वारा शासित रजवाड़ों में, कोई बड़ा भवन उठाया जा रहा है, तो मेरा मन दुःखी हो जाता है और मैं सोचने लगता हूँ, ''यह पैसा तो किसानों के पास से इकट्ठा किया गया पैसा है।'' हमारे 75 प्रतिशत से भी अधिक लोग किसान हैं; कल श्री हिगिनबॉटम ने अपनी प्रवाहमयी वाणी में कहा, ''ये ही वे लोग हैं जो एक के दो दानें करते हैं।'' यदि हम इनके परिश्रम की सारी कमाई दूसरों को उठाकर ले जाने दें तो कैसे कहा जा सकता है कि स्वराज्य की कोई भी भावना हमारे मन में है। हमें आज़ादी किसान के बिना नहीं मिल सकती। आज़ादी वकील और डॉक्टर या सम्पन्न जमींदारों के वश की बात नहीं है।

अब अन्त में उस बात का थोड़ा-सा विवेचन करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिसने आज दो-तीन दिनों से हमारे मनों को उद्विग्न कर रखा है। श्रीमान् वाइसरॉय के यहाँ के रास्तों से निकलने के समय हम सब लोग बड़ी ही चिन्ता में थे। स्थान-स्थान पर खुफिया पुलिस के लोग नियत थे। हम दंग रह गये। हमारे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता था कि हम लोगों के प्रति इतने अविश्वास का क्या कारण है? इस प्रकार मरणान्तक-दुःख भोगते हुए जीने की अपेक्षा क्या लॉर्ड हार्डिज के लिए सचमुच ही मर जाना अधिक श्रेयस्कर नहीं है! परन्तु एक बलशाली सम्राट् के प्रतिनिधि इस प्रकार मर भी नहीं सकते। मृतक की भाँति जीना ही वे शायद जरूरी समझते होंगे पर दूसरा प्रश्न यह है कि खुफिया पुलिस का जुआ हमारे सिर पर लादने का क्या कारण है? हम क्रुद्ध होते हों, बड़बड़ाते हों, हाथ-पैर पटकते हों, या और जो चाहे-सो करते हों, पर फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत में अराजक दल की उत्पत्ति का कारण उतावलेपन का नशा है। मैं खुद भी अराजक ही हूँ; पर दूसरे वर्ग का। हमारे यहाँ अराजकों का एक वर्ग है जिससे यदि मुझे मिलने का अवसर मिले तो मैं उनसे स्पष्ट कह दूँगा कि ''भाइयो! यदि भारत को अपने विजेताओं पर विजय प्राप्त करनी हो तो आपकी अराजकता के लिए यहाँ जगह नहीं है।'' यह भीरुता का लक्षण है। यदि आपका ईश्वर पर विश्वास हो और यदि आप उसका भय मानते हों तो फिर आपको किसी से डरने का कोई कारण नहीं है; फिर चाहे वे राजा-महाराजा हों, वायसराय हों, खुफिया पुलिस हों अथवा स्वयं सम्राट् हों। अराजकों के स्वदेश-प्रेम का मैं बड़ा आदर करता हूँ। ये जो स्वदेश के लिए आनन्दपूर्वक मरने के लिए प्रस्तुत रहते हैं उनकी मैं इज्जत करता हूँ। पर मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या किसी की जान लेना प्रतिष्ठा का कार्य है? क्या छुरे से हत्या करने के फलस्वरूप जो मृत्यु दंड प्राप्त होता है उसे किसी भी प्रकार गौरवपूर्ण माना जा सकता है? मैं कहता हूँ 'नहीं'। कोई धर्मग्रन्थ ऐसे उपाय का अवलम्बन करने की अनुमति नहीं देता।

यदि मुझे इस बात का विश्वास हो जाये कि अंग्रेजों के रहते हुए इस देश का कदापि उद्धार न होगा—उन्हें यहाँ से निकाल ही देना चाहिए— तो उनसे अपना बोरिया-बिस्तर समेट कर यहाँ से चलते होने की प्रार्थना करने में मैं कभी आगा-पीछा न करूँगा और मुझे विश्वास है कि अपनी इस दृढ़धारणा के समर्थन में मैं मरने को भी तैयार रहूँगा ऐसा

मरण ही मेरी सम्मति में प्रतिष्ठा का मरण है। बम फेंकने वाला गुप्त-रूप से षड्यंत्र करता है। वह बाहर निकलने से डरता है और पकड़े जाने पर अपने अयोग्य और अतिरिक्त उत्साह का प्रायश्चित भोगता है। ये लोग कहते हैं कि यदि हम लोग ऐसी कार्रवाइयाँ न करते, यदि हमारे कुछ साथी बहुतों को बम का निशाना न बनाते तो बंगभंग के सम्बन्ध में....। (इस स्थान पर श्रीमती बेसेंट ने गांधीजी से भाषण शीघ्र समाप्त करने के लिए कहा।) मि0 लॉयन्स की अध्यक्षता में बंगाल में भी मैंने यही बात कही थी। मेरा खयाल है कि मैं जो-कुछ कह रहा हूँ वह बिलकुल ठीक है। मुझे अपना भाषण बन्द करने को कहा जायेगा तो मैं बन्द कर दूँगा। (अध्यक्ष को सम्बोधित कर) महाराज, मैं आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। यदि आपकी समझ में मेरी इन बातों से देश और साम्राज्य को हानि पहुँच रही है तो मुझे अवश्य चुप हो जाना चाहिए। (कहिए, कहिए का शोर; अध्यक्ष ने गाँधीजी से अपना मतलब साफ तौर पर बतलाने को कहा) मैं अपना मतलब स्पष्ट करता हूँ। मैं सिर्फ (फिर गड़बड़) मित्रों, इस गड़बड़ से आप रुष्ट न हों। श्रीमती बेसेंट को मेरा चुप हो जाना उचित जान पड़ता है, इसका कारण यह है कि भारत पर उनका बहुत अधिक प्रेम है और वे समझती हैं कि युवकों के सामने इस प्रकार की स्पष्ट बातें कहकर मैं अनुचित काम कर रहा हूँ। पर यदि ऐसा हो तो भी मेरा कहना है कि मुझे भारत को उस अविश्वास से मुक्त करना है जो राजा और प्रजा, सभी के मन में उत्पन्न हो गया है। यदि अपने साध्य को प्राप्त करना हो तो परस्पर की प्रीति तथा विश्वास पर स्थापित साम्राज्य से ही हमारा काम चलेगा और अपने-अपने घरों में बैठे-बैठे दायित्व-हीन ढंग से यही बातें कहने की अपेक्षा क्या इस विद्यालय के प्रांगण में खड़े होकर उन्हें खुले तौर पर कहना अधिक अच्छा नहीं है? मेरा तो खयाल है, इन बातों को पूरी स्पष्टता से कहना ही अधिक अच्छी बात है। पहले भी मैंने ऐसा ही किया है और उसका परिणाम बड़ा ही उत्तम हुआ है। मैं यह भी जानता हूँ कि आज ऐसी कोई बात नहीं है जिसकी विद्यार्थियों में चर्चा न होती हो या जिसे वे न जानते हों। इसीलिए मैंने यह आत्मनिरीक्षण आरम्भ किया है। अपने देश का नाम मुझे बड़ा ही प्यारा है। इसी से मैंने आप लोगों के साथ विचार-विनिमय की इतनी चेष्टा की है और आप लोगों से मेरी नम्रतापूर्वक प्रार्थना है कि अराजकता को भारत में बिलकुल स्थान न मिलने दीजिए। राज्यकर्ताओं से आपको जो-कुछ कहना हो उसे खुलकर साफ शब्दों में कह दीजिए और तैयार रहिए। आप उन्हें गालियाँ न दीजिए। जिस सिविल-सर्विस पर निन्दा की बेहद बौछार की जाती है एक बार उसके एक अधिकारी से मुझे वार्तालाप करने का अवसर मिला था। इन लोगों से मेरा कुछ बहुत हेलमेल नहीं है, तथापि उसकी बातचीत का ढंग प्रशंसनीय था। उसने पूछा— क्या आपका भी ऐसा ही खयाल है कि हम सभी सिविल-सर्विस वाले बुरे होते हैं और जिन लोगों पर शासन करने के लिए हम यहाँ आते हैं उन पर हम केवल अत्याचार ही करना चाहते हैं? मैंने कहा— ''नहीं, मैं ऐसा नहीं मानता।'' इस पर उसने कहा कि 'तो फिर जब कभी आपको मौका मिले आप हम अभागे सिविल-सर्वेंटों के पक्ष में लोगों के सामने दो शब्द कहने की कृपा करें।'' वे दो शब्द मैं यहाँ कहने वाला हूँ। इंडियन सिविल-सर्विस के बहुत-से लोग निःसन्देह उद्धत, अत्याचार-प्रिय और अविवेकी होते हैं। इसी तरह के और कितने ही विशेषण उन्हें दिये जा सकते हैं। यह सब कुछ मुझे स्वीकार है। यही नहीं, मैं यह भी मानता हूँ कि कुछ वर्षों तक हमारे देश में रहकर वे और भी ओछी मनोवृत्ति के बन जाते हैं। पर इससे क्या सूचित होता है? यहाँ आने के पहले यदि वे सभ्य और सत्पुरुष थे, पर यहाँ आकर यदि वे नीति-भ्रष्ट हो गये तो क्या इसको हमारे ही चरित्र का प्रतिबिम्ब नहीं कहना चाहिए? (नहीं, नहीं) आप लोग खुद ही विचार करें कि एक मनुष्य जो कल तक भला आदमी था, मेरे साथ रहने पर खराब हो जाये तो उसके इस अधःपतन के लिए कौन उत्तरदायी होगा? वह या मैं? भारत में आने-पर खुशामद की जो हवा उन्हें चारों ओर से घेर लेती है वही उनके नीतिच्युत होने का कारण है। ऐसी हालत में कोई भी व्यक्ति नीतिच्युत हो सकता है। कभी-कभी अपना दोष स्वीकार करना भी अच्छा होता है। यदि किसी दिन हमें स्वराज्य मिलेगा तो वह अपने ही पुरुषार्थ से मिलेगा। वह दान के रूप में कदापि नहीं मिलने का। ब्रिटिश-साम्राज्य के इतिहास पर दृष्टिपात कीजिए। ब्रिटिशसाम्राज्य चाहे जितना स्वातंत्र्य-प्रेमी हो, फिर भी स्वतन्त्रताप्राप्ति के लिए स्वयं उद्योग न करने वालों को वह कभी स्वतंत्रता देने वाला नहीं है। आप चाहें तो बोअर-युद्ध से कुछ शिक्षा ले सकते हैं। कुछ ही वर्ष पहले जो बोअर लोग साम्राज्य के शत्रु थे, वही अब उसके मित्र हैं।

(इस समय फिर गड़बड़ शुरू हुई और श्रीमती बेसेंट उठकर चल दीं। उनके साथ और भी कई बड़े-बड़े लोग उठकर चलते बने। और व्याख्यान का अन्त यहाँ हो गया।)

शिक्षा में हेर-फेर

❑ *रवीन्द्रनाथ ठाकुर*

भारत के महानतम सपूतों में से एक रवीन्द्रनाथ ठाकुर बहुमुखी प्रतिभा के धनी और कमहान व्यक्तित्व के स्वामी थे। साहित्य के लिए 1913 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित। प्रस्तुत निबंध 1892 में राजशाही एसोसिएशन के अनुरोध पर लिखा गया तथा 'साधना में प्रकाशित हुआ।

जो अत्यावश्यक है उसी में आबद्ध होकर रहना मानव-जीवन का धर्म नहीं है। आवश्यकता की शृंखला से हम किसी सीमा तक बद्ध हैं, लेकिन किसी हद तक हम स्वाधीन भी हैं। हमारा शरीर साढ़े-तीन हाथ के फासले में सीमित है, लेकिन उसके लिए साढ़े-तीन हाथ का घर बनाने से काम नहीं चलेगा। चलने-फिरने के लिए यथेष्ट स्थान रखना जरूरी है, वरना हमारे स्वास्थ्य और आनन्द दोनों में बाधा पड़ेगी। शिक्षा के विषय में भी यही बात लागू होती है। जो कम-से-कम जरूरी है वहीं तक यदि शिक्षा को सीमित किया गया तो बच्चों के मन की वृद्धि नहीं हो सकेगी। आवश्यक शिक्षा के साथ स्वाधीन पाठ को मिलाना होगा, अन्यथा बच्चे की चेतना का विकास नहीं होगा— आयु बढ़ने पर भी बुद्धि की दृष्टि से वह सदा बालक ही रहेगा।

लेकिन दुर्भाग्य से हमारे पास समय की कमी होती है। हम चाहते हैं कि जितना शीघ्र हो सके, विदेशी भाषा सीखकर, इम्तहान पास करके काम में जुट जायें। इसलिए बचपन से ही हाँफते-हाँफते, दायें-बायें न देखकर, जल्दी-जल्दी सबक याद करने के अलावा और कुछ करने का हमारे पास समय नहीं होता। बच्चों के हाथ में यदि कोई मनोरंजन की पुस्तक दिखाई पड़ी तो वह फौरन छीन ली जाती है।

और फिर मनोरंजन की पुस्तक आये भी कहाँ से? बांग्ला में इस तरह की किताबें नहीं हैं। रामायाण-महाभारत अवश्य हैं, लेकिन बच्चों को बांग्ला भाषा इस तरह नहीं सिखाई जाती कि वे घर बैठकर अपनी इच्छा से बांग्ला काव्य का यथार्थ स्वाद ग्रहण कर सकें। और बेचारे बालक अंग्रेजी भी इतनी नहीं जानते कि उस भाषा की बालोचित पुस्तकें पढ़सकें। शिशुओं के लिए लिखी अंग्रेजी पुस्तकों में अंग्रेजी संस्कृति का वातावरण होता है, उसमें अंग्रेज घर की बातें और कौटुम्बिक वार्तालाप होता है, जो हमारे एम.ए. पास पाठकों के लिए भी सम्पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं होता।

परिणामस्वरूप, हमारे बंगाल में बच्चों को व्याकरण, शब्दकोश, भूगोल के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता – उनके भाग्यमें अन्य पुस्तकें नहीं हैं। दूसरे देशों के बालक जिस आयु में अपने नये दाँतों से बड़े आनन्द के साथ गन्ना चबाते हैं, उसी आयु में हमारे बंगाल के बच्चे स्कूल की बेंच पर - धोती की कांछ के साथ अपनी दुबली-पतली टाँगों को हिलाते हुए - मास्टर के बेंत हजम करते हैं और बेंत के साथ उन्हें कड़वी गालियों के अलावा दूसरा कोई मसाला भी नहीं मिलता।

इससे उनकी मानसिक पाचन-शक्ति का ह्रास होता है। जिस तरह बंगाल की सन्तानों का शरीर उपयुक्त आहार और खेल-कूद के अभाव में कमजोर रह जाता है उसी तरह उनके मन का पाकाशय भी अपरिणत रह जाता है। हम बी.ए., एम.ए. पास करते रहें, पुस्तकों के ढेर-के ढेर निगलते रहें, पर हमारी बौद्धिक शक्ति परिपक्व नहीं होती, किसी चीज को हम कसकर पकड़ नहीं पाते, किसी चीज की आद्योपान्त रचना नहीं कर पाते। हमारे विचार, हमारे आचार-अनुष्ठान वैसे नहीं हैं जैसे बालिगों के होने चाहिए। इसीलिए हम अत्युक्ति, आडम्बर और आत्मश्लाघा द्वारा अपने मानसिक दैन्य को ढाँकने की कोशिश करते हैं।

इसका कारण यही है कि हमारी शिक्षा में बाल्य-काल से ही आनन्द के लिए स्थान नहीं होता। जो नितान्त आवश्यक है उसी को हम कण्ठस्थ करते हैं। इससे काम तो किसी-न-किसी तरह चल जाता है, लेकिन हमारा विकास नहीं होता। हवा से पेट नहीं भरता, पेट तो भोजन से ही भरता है। लेकिन भोजन को ठीक से हजम करने के लिए हवा आवश्यक है वैसे ही एक 'शिक्षा पुस्तक' को अच्छी तरह पचाने के लिए बहुत-सी पाठ्य पुस्तकों की सहायता जरूरी है। आनन्द के साथ पढ़ते रहने से पठन-शक्ति भी अलक्षित रूप से वृद्धिगत हो जाती है, सहज-स्वाभाविक नियम से ग्रहण-शक्ति, धारणा-शक्ति और चिंतन-शक्ति भी सबल होती है।

लेकिन मानसिक शक्ति का ह्रास करने वाली इस निरानन्द शिक्षा से बंगालियों को कैसे छुटकारा मिलेगा कुछ समझ में नहीं आता।

एक तो अंग्रेजी विदेशी भाषा है। शब्द-विन्यास और पद-विन्यास की दृष्टि से हमारी भाषा के साथ उसका कोई सामंजस्य नहीं। तिस पर भावपक्ष और विषय-प्रसंग भी विदेशी होते हैं। शुरू से आखिर तक सभी अपरिचित चीजें हैं, इसलिए धारणा उत्पन्न होने से पहले ही हम रटना आरम्भ कर

देते हैं। फल वही होता है जो बिना चबाया अन्न निगलने से होता है। शायद बच्चों की किसी 'रीडर' में Hay-making का वर्णन है। अंग्रेज बालकों के लिए यह एक सुपरिचित चीज है और उन्हें इस वर्णन से आनन्द मिलता है। Snowball से खेलते हुए Charlie का Katie से कैसे झगड़ा हुआ यह भी अंग्रेज बच्चे के लिए कुतूहलजनक घटना है। लेकिन हमारे बच्चे जब विदेशी भाषा में यह सब पढ़ते हैं तब उनके मन में कोई स्मृति जागृत नहीं होती, उनके सामने कोई चित्र प्रस्तुत नहीं होता। अन्धभाव से उनका मन अर्थ को टटोलता रहता है।

नीचे के दर्जों को जो मास्टर पढ़ाते हैं उनमें से कोई एन्ट्रेन्स पास है, तो कोई एन्ट्रेन्स फेल। अंग्रेजी भाषा, भाव, आचार, व्यवहार, साहित्य - किसी से वे परिचित नहीं हैं। और उन्हीं के हाथों हमारा अंग्रेजी के साथ प्रथम परिचय होता है। वे न तो बांग्ला अच्छी तरह जानते हैं, न अंग्रेजी। उन्हें बस यही सुविधा है कि बच्चों को पढ़ाने की तुलना में बच्चों का मन बहलाना बहुत आसान है। इस कार्य में वे पूरी तरह सफल होते हैं।

इन बेचारों को दोष देना भी ठीक न होगा। यदि Horse is a noble animal का अनुवाद किया जाय तो बांग्ला में भी यह वाक्य ठीक नहीं उतरता और अंग्रेजी के विषय में भी हम दुविधा में पड़ जाते हैं। अर्थ को हम कैसे करें? 'घोड़ा एक महान जन्तु है', 'घोड़ा एक उच्च श्रेणी का जानवर है', 'घोड़ा एक बहुत ही अच्छा प्राणी है' इसमें से कोई भी अनुवाद हमें सन्तुष्ट नहीं करता। अंग्रेजी की हमारी प्रारम्भिक शिक्षा में इस तरह की मिलावट का कोई अन्त नहीं होता। फलतः अल्पायु में हम जिस तरह की अंग्रेजी सीखते हैं उसका स्तर इतना सामान्य होता है और वह इतनी गलत होती है कि उसमें से रस निचोड़ना किसी बालक के लिए सम्भव नहीं होता और न प्रत्याशित ही होता है। मास्टर और छात्र दोनों कहते हैं— रस से हमारा कोई वास्ता नहीं। खींच-तानकर किसी तरह शब्दों से अर्थ को निकाल लें तो काफी है। परीक्षा में पास हों, दफ़्तर में नौकरी मिले, बस और क्या चाहिए। और जो अर्थ निकाला जाता है उसके संबंध में शंकराचार्य के शब्द स्मरण हो उठते हैं—

'अर्थमनर्थम् भावय नित्यं
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।

अर्थ को अनर्थ समझो–उसमें न सुख है, न सत्य।

तो फिर बच्चों के भाग्य में बाकी क्या रहा? यदि वे केवल बांग्ला सीखते तो रामायण-महाभारत पढ़लेते; यदि कुछ भी न सीखते तो उन्हें खेल-कूद के लिए अवकाश मिलता - पेड़ पर चढ़ते, पानी में डुबकियाँ लगाते, फूल तोड़ते, प्रकृति-जननी को हज़ार शरारतों से तंग करते उनका शरीर पुष्ट और मन प्रफुल्ल होता; उनकी बाल्य प्रकृति को तृप्ति मिलती। लेकिन अंग्रेजी पढ़ने के प्रयास में न वे सीखते हैं, न खेलते हैं, प्रकृति के सत्यराज्य में प्रवेश करने के लिए उन्हें अवकाश नहीं मिलता, साहित्य के कल्पना-राज्य का द्वार उनके लिए अवरुद्ध रहता है। मनुष्य के अन्दर और बाहर दो उन्मुक्त विहार-क्षेत्र हैं, जहाँ से वह जीवन, बल और स्वास्थ्य का संचय करता है, जहाँ नाना वर्ण-रूप-गंध, विचित्र गीत और संगीत, प्रीति और उल्लास उसे सर्वांगचेतन और विकसित करते हैं। इन दोनों मातृभूमियों से निर्वासित करके अभागे बालकों को एक विदेशी कारागृह में बन्द कर दिया जाता है। जिनके लिए ईश्वर ने माता-पिता के हदय में स्नेह का साँचा किया है, जिनके लिए माता की गोद को कोमलता प्रदान की गई है, जो आकार में छोटे होते हुए भी घर-भर की सारी जगह को अपने खेल के लिए यथेष्ट नहीं समझते, ऐसे बालकों को अपना बचपन कहाँ काटना पड़ता है? विदेशी भाषा के व्याकरण और शब्दकोश में- जिसमें जीवन नहीं, आनन्द नहीं, अवकाश या नवीनता नहीं, जहाँ हिलने-डुलने का स्थान नहीं, ऐसी शिक्षा के शुष्क, कठोर, संकीर्णता में। इससे क्या बालक कभी मानसिक शक्ति, चित्त का प्रसार या चरित्र की बलिष्ठता का लाभ कर सकता है? क्या वह फीका, रक्तहीन, दुबला और अविकसित नहीं रहेगा? क्या वह बड़ा होने पर अपनी बुद्धि से कुछ निर्माण कर सकेगा, अपनी शक्ति के बाधाओं का अतिक्रमण कर सकेगा, अपने स्वाभाविक तेज से मस्तक उन्नत कर सकेगा? क्या वह केवल रटना, नकल करना और दूसरों की गुलामी करना ही नहीं सीखेगा?

जीवन की अवस्थाओं का एक दूसरे से अविच्छिन्न योग होता है। बाल्यकाल से धीरे-धीरे परिणत होते ही हम यौवन तक पहुँचते हैं। यौवन में सहसा कर्मक्षेत्र में प्रवेश करते ही जो आवश्यक है वह हमें सहज ही मिल नहीं जाता। जीवन के लिए आवश्यक चीजें हमारे हाथ-पाँव की तरह जीवन के साथ-ही-साथ बढ़ती हैं। वह ऐसी सामग्री नहीं है, जो जरूरत पड़ने पर बाजार से बनी-बनाई खरीदी जा सके।

चिन्तन-शक्ति और कल्पना शक्ति दोनों जीवन-यात्रा सम्पन्न करने के लिए अत्यावश्यक है, इसमें सन्देह नहीं। यदि हमें वास्तव में मनुष्य होना है तो इन दोनों को जीवन में स्थान देना होगा। इसलिए यदि बाल्यकाल से ही चिन्तन और

कल्पना पर ध्यान न दिया गया तो काम पड़ने पर उनका अभाव दुखदायी सिद्ध होगा, यह अनुभव बहुत प्राचीन है।

लेकिन हमारी वर्तमान शिक्षा में इन दोनों के लिए रास्ता बन्द है। हमें दीर्घकाल तक केवल भाषा-शिक्षा में उलझे रहना पड़ता है। पहले ही कह चुका हूँ कि अंग्रेजी हमारे लिए अतनी परकीय है और हमारे शिक्षकों का उस पर प्रभुत्व इतना कम है कि भाषा के साथ भाव का प्रवेश हमारे मन में नहीं हो पाता। इसलिए अंग्रेजी के भाव से परिचित होने में ही हमें बहुत समय लगता है और तब तक हमारी चिन्तन-शक्ति किसी उपयुक्त काम के अभाव से निश्चेष्ट पड़ी रहती है। एन्ट्रेन्स और फर्स्ट-ईयर आर्ट्स तक केवल काम चलाऊ अंग्रेजी हम सीख पाते हैं। फिर सहसा बी.ए. क्लास में बड़ी-बड़ी पुस्तकों और गम्भीर चिन्तनीय विषयों का हमें सामना करना होता है। उन्हें अच्छी तरह आत्मसात् करने के लिए हमारे पास न समय होता है, न शक्ति। सबको मिलाकर खिचड़ी पकाकर, हम किसी तरह निगल जाते हैं।

हमारी शिक्षा में पढ़ने की क्रिया के साथ-साथ सोचने की क्रिया नहीं होती। हम ढेर-का-ढेर जमा करते हैं, कुछ निर्माण नहीं करते। ईंट-पत्थर, बालू-चूना पहाड़ की तरह जमा हो जाते हैं, और इसी समय विश्वविद्यालय का हुक्म होता है : 'एक तिमंजिला मकान बनाओ।' उपकरणों के स्तूप पर चढ़कर दो साल तक परिश्रम करके हम स्तूप के ऊपर का भाग बड़ी मुश्किल से समतल बना पाते हैं। अब स्तूप का इमारत के आकार में थोड़ा-बहुत सादृश्य उत्पन्न होता है – लेकिन क्या इसे कोई अट्टालिका कहेगा? इसमें हवा और रोशनी के प्रवेश के लिए क्या कोई व्यवस्था है? मनुष्य के स्थायी आवास के लिए क्या यहाँ आश्रय मिल सकतका है? क्या बाह्य संसार की गर्मी-सर्दी से यह इमारत हमारी रक्षा कर सकती है? इसमें कोई क्रमबद्धता, कोई सौन्दर्य, कोई सुषमा भी है?

माल-मसाला प्रचुर मात्रा में जमा किया गया है इसमें सन्देह नहीं; मानसिक अट्टालिका के निर्माण के लिए इतनी ईंटें पहले हमारे पास नहीं थीं। लेकिन संग्रह करना यदि सीख लें तो निर्माण करना भी सीखा जाता है, यह विचार ही सबसे बड़ी भूल है। वास्तव में संग्रह और निर्माण के कार्य यदि साथ-साथ अग्रसर हों तभी इमारत बनाने का काम सम्पन्न हो सकता है।

संग्रहणीय वस्तु हाथ आते ही उसका उपयोग जानना, उसका प्रकृत परिचय प्राप्त करना और जीवन के साथ-ही-साथ जीवन का आश्रयस्थल बनाते जाना–यही है रीतिमय शिक्षा। हमारे देश में यह अजीब परिस्थिति है कि मनुष्य एक दिशा में विकसित हो रहा है तो विद्या किसी और जगह जमा होती जा रही है; एक ओर खाद्य पदार्थों से कोठरी गिरी जा रही है, तो दूसरी ओर पाचन यन्त्र अपने ही रस में गला जा रहा है।

इसलिए यदि बच्चों को मनुष्य बनाना है तो यह क्रिया बाल्यकाल से ही आरम्भ हो जानी चाहिए, वरना वे सदा बच्चे ही बने रहेंगे। शैशव से ही केवल स्मरण-शक्ति पर बल न देकर उसके साथ-ही-साथ चिन्तन-शक्ति और कल्पना-शक्ति को स्वाधीन रूप से परिचालित करने का भी अवसर उन्हें दिया जाना चाहिए। सबेरे से शाम तक केवल हल चलाना और पत्थर तोड़ना, केवल पिटाई, रटना और इम्तहान-यथेष्ट नहीं है; इससे हम अपने बहुमूल्य खेत में सोने की फसल नहीं उगा सकते।

इस शुष्क धूल के साथ, इस अविरत हल चलाने के साथ रस का होना भी आवश्यक है। मिट्टी जितनी सरस होती है उतनी ही फसल अच्छी होती है। एक ऐसा समय आता है जब खेत के लिए वृष्टि की सबसे अधिक जरूरत है। वह समय यदि निकल जाय तो बाद में हजारों बार वर्षा होने से भी उतना लाभ नहीं हो सकता। वयोविकास में भी एक ऐसा विशिष्ट समय जाता है जब सजग भावना और नवीन कल्पना जीवन की परिणति के लिए, सरसता-साधन के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है। इसी समय यदि साहित्य के आकाश से जोरदार बारिश हो तो फिर क्या कहना–'धन्य राजा पुष्य देश'। अन्धकार की मातृभूमि को छोकर नवोद्भिज हृदयांकुर विपुल पृथ्वी और अनन्त आकाश की ओर सिर उठा रहा है; प्रछन्न जन्मगृह के द्वार पर आकर शिशु मन बाह्य संसार से नूतन परिचय प्राप्त कर रहा है; नवीन विस्मय, नवीन प्रीति और कौतूहल का आविर्भाव हो रहा है।

ऐसे समय यदि भाव का समीर उसे मिले, आनन्दलोक से प्रकाश और आशीर्वाद की धारा आकर उसे स्पर्श करे, तभी उसका जीवन सफल, सरस और परिणत होगा। लेकिन यदि इस समय शुष्क धूल और तपी हुई बालू–नीरस व्याकरण और विदेशी शब्दकोश - उसे आच्छन्न करें, तो बाद में चाहे मूसलाधार वर्षा ही क्यों न हो, योरोपीय साहित्य के जीवन्त सत्य विचित्र कल्पनाएँ और उन्नत भाव चाहे जितनी मात्रा में उसके दायें-बायें फैला दिए जाएँ, उसकी शिक्षा सफल नहीं होगी। साहित्य की अन्तर्निहित जीवन-शक्ति उसके प्राणों में सहज भाव से प्रकाशित नहीं होगी।

हमारी नीरस शिक्षा में जीवन का यही बहुमूल्य समय

व्यर्थ हो जाता है। हम बाल्यावस्था से कैशोर्य में और कैशोर्य से यौवन में प्रवेश करते हैं। शुष्क ज्ञान का बोझ लेकर सरस्वती के साम्राज्य में हम मजदूरी ही करते रहते हैं। हमारी रीढ़की हड्डी झुक जाती है, मनुष्यत्व का सर्वांगीण विकास नहीं होता। जब अंग्रेजी के भावराज्य में हम प्रवेश करते हैं, वहाँ हम स्वच्छन्दता से विहार नहीं कर सकते। भावों को हम चाहे समझ भी लें, उन्हें अपने मर्मस्थल पर केन्द्रित नहीं कर पाते। वक्तृताओं और निबन्धों में चाहे हम उन भावों का प्रयोग करें, जीवन में उनकी परिणति नहीं होती।

इस तरह बीस-बाईस वर्ष की आयु तक हमें जो शिक्षा मिलती है उसका हमारे जीवन के साथ रासायनिक मिश्रण नहीं होता। इससे हमारे मन को एक अजीब आकार मिलता है। शिक्षा से हमें जो विचार और भाव मिलते हैं उनमें से कुछ को तो लेई से जोड़कर हम सुरक्षित रखते हैं, और बचे हुए कालक्रम से झड़ जाते हैं। बर्बर जातियों के लोग शरीर पर रंग लगाकर या शरीर के विभिन्न अंगों को गोदकर गर्व का अनुभव करते हैं, जिससे उनके स्वाभाविक स्वास्थ्य की उज्ज्वलता और लावण्य छिप जाते हैं। उसी तरह हम भी अपने विलायती विद्या का लेप लगाकर दम्भ करते हैं, यद्यपि यथार्थ आन्तरिक जीवन के साथ उसका योग बहुत ही कम होता है। असभ्य जातियों के राजा सस्ते, विलायती काँच के टुकड़ों को अपने शरीर पर लटकाते हैं और विलायती वस्तुओं से विचित्र तरह का विन्यास करते हैं। वे नहीं समझते कि उनका व्यवहार कितना हास्यास्पद होता है। उसी तरह हम भी सस्ते, चमकते हुए, विलायती ज्ञान को लेकर शान दिखाते हैं, विलायती विचारों का असंगत रूप से प्रयोग करते हैं। हम स्वयं यह नहीं समझते कि अनजाने ही हम कैसे अपूर्व प्रहसन का अभिनय कर रहे हैं। यदि कोई हमारे ऊपर हँसता है तो हम फौरन योरोपीय इतिहास के बड़े-बड़े उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

बाल्यकाल से ही यदि भाषा-शिक्षा के साथ भाव-शिक्षा की भी व्यवस्था हो और भाव के साथ समस्त जीवन-यात्रा नियमित हो, तभी हमारे जीवन में यथार्थ सामंजस्य स्थापित हो सकता है, हमारा व्यवहार सहज मानवीय व्यवहार हो सकता है और प्रत्येक विषय में उचित परिमाण की रक्षा हो सकती है। हमें यह अच्छी तरह समझना चाहिए कि जिस भाव से हम जीवन-निर्वाह करते हैं उसके अनुकूल हमारी शिक्षा नहीं है। जिस घर में हमें सदा के लिए रहना है उसका उन्नत चित्र हमारी पाठ्य पुस्तकों में नहीं है। जिस समाज के बीच हमें अपना जीवन बिताना है उस समाज का कोई उच्च आदर्श हमें शिक्षा-प्रणाली के साहित्य में नहीं मिलता। उसमें हम अपने माता-पिता, सुहृद-मित्र, भाई-बहन किसी का प्रत्यक्ष चित्रण नहीं देखते। हमारे जीवन के कार्यकलाप को उस साहित्य में स्थान नहीं मिलता। हमारे आकाश और पृथ्वी, निर्मल प्रभात और सुंदर संध्या, परिपूर्ण खेत और देशलक्ष्मी स्रोतस्विनी का संगीत उस साहित्य में ध्वनित नहीं होता। यह देखकर हम समझ सकते हैं कि वर्तमान शिक्षा के साथ हमारे बीच एक व्यवधान है। हमारी शिक्षा जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर पाती। जहाँ हमारे जीवन-वृक्ष की जड़ें हैं वहाँ से सौ गज़ दूर हमारी शिक्षा की वर्षा होती है। जो थोड़ा-बहुत पानी हम तक पहुँचता है वह जीवन की शुष्कता को दूर करने के लिए यथेष्ट नहीं है। जिस शिक्षा को लेकर हम जीवन व्यतीत करते हैं उसकी उपयुक्तता किसी एक व्यवसाय तक ही सीमित रहती है। जिस सन्दूक में हम अपनी दफ़्तर की पोशाक रखते हैं उसी के अन्दर अपनी विद्या को भी बन्द कर देते हैं। सम्पूर्ण जीवन के साथ उसका कोई संबंध नहीं होता। यह वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का स्वाभाविक परिणाम है। और इसके लिए छात्रों को दोष देना अन्याय होगा। उनका ग्रंथ-जगत् एक ओर है तो वास्तव्य-जगत् दूसरी ओर। इन दोनों के बीच केवल व्याकरण शब्दकोश का सेतु है। इसलिए हमें इस बात से आश्चर्य नहीं होता कि एक ही व्यक्ति एक और योरोपीय दर्शन, विज्ञान और न्यायशास्त्र का पण्डित है तो दूसरी ओर सारे कुसंस्कारों का यत्नपूर्वक पोषण करता है; एक ओर स्वाधीनता के उज्ज्वल आदर्श का प्रचार करता है तो दूसरी ओर अधीनता के शतसहस्र तंतुपाश से अपने को और दूसरों का प्रतिक्षण आच्छन्न करता है; एक ओर भाव वैचित्र्यपूर्ण साहित्य का स्वतंत्र रूप से रसोपभोग करता है तो दूसरी ओर जीवन को भाव के उच्च शिखर पर नहीं बल्कि केवल धनोपार्जन और वैषयिक उन्नति के आधार पर स्थापित करता है। विद्या और व्यवहार के बीच एक दुर्भेद्य व्यवधान उत्पन्न हो गया है; दोनों में सुसंलग्नता निर्मित नहीं हो पाती।

परिणाम यह होता है कि दोनों उत्तरोत्तर एक-दूसरे के विरोधी होते जाते हैं। हमारी जो पुस्तकीय विद्या है उसकी विपरीत दिशा में जीवन को निर्देशित करते-करते हमारे मन में उस विद्या के प्रति अविश्वास और अश्रद्धा का जन्म होता है। हम सोचते हैं कि वह विद्या का सारहीन और मिथ्या वस्तु है और समस्त योरोपीय सभ्यता इसी मिथ्या पर आधारित है। जो कुछ हमारा है वह तो सत्य है और जिधर विद्या हमें ले जाती है उधर सभ्यता नामक एक मायाविनी का साम्राज्य है। हम यह नहीं देखते कि विशेष कारणों से हमारे लिए यह शिक्षा निष्फल सिद्ध हुई है; बल्कि हम यह स्थिर करते हैं कि इस

विद्या के अन्दर स्वभावतः एक बृहत निष्फलता विद्यमान है। इस तरह जब हम शिक्षा के प्रति अश्रद्धा प्रकट करते हैं तब शिक्षा भी हमारे जीवन से विमुख हो जाती है। हमारे चरित्र के ऊपर शिक्षा का प्रभाव विस्तृत परिमाण में नहीं पड़ता। शिक्षा और जीवन का आपसी संघर्ष बढ़ता जाता है। वे एक-दूसरे का परिहास करते हैं। असम्पूर्ण जीवन और शिक्षा को लेकर बंगालियों की संसार-यात्रा दोनों दिशाओं में एक प्रहसन बन जाती है।

जीवन का तिहाई हिस्सा हम जिस शिक्षा में बिताते हैं वह यदि हमारे सम्पूर्ण जीवन से असंलग्न हो जाय, और किसी अन्य शिक्षा के प्राप्त करने का अवसर हमें न मिले, तो अपने अस्तित्व को सार्थक बनाने का कोई साधन हमारे पास नहीं रह जाता। इसलिए शिक्षा और जीवन में सामंजस्य निर्माण करने की समस्या आज हमारे लिए सर्वप्रधान विचारणीय विषय है।

लेकिन यह सामंजस्य किस शक्ति के द्वारा स्थापित हो सकेगा? बांग्ला साहित्य के ही द्वारा। जब बंकिम बाबू का 'बंग दर्शन' नव प्रभात की तरह हमारे देश में उदित हुआ उस समय समस्त शिक्षित जगत में एक अपूर्व आनन्द का संचार हुआ था। इसका कारण यह नहीं था कि 'बंगदर्शन' ने किसी ऐसे नूतन तत्त्व को प्रकाशित किया था जो योरोपीय दर्शन, विज्ञान या इतिहास में उपलब्ध नहीं था। 'बंगदर्शन' ने एक ऐसी प्रबल प्रतिभा को जन्म दिया जिससे हमारी अंग्रेजी शिक्षा और हमारे अन्तःकरण के बीच जो व्यवधान था वह दूर हुआ। बहुत दिनों के बाद प्राण के साथ भाव का आनन्दमय मिलन हुआ। प्रवासी को घर के भीतर लाया गया और इस उत्सव से घर उज्ज्वल हुआ। इतने दिनों तक कृष्ण का मथुरा में राजत्व था, बीस-पच्चीस वर्ष तक द्वारपाल की आराधना करने पर कहीं दूर से उनका दर्शन मिलता था, 'बंगदर्शन' ने श्रीकृष्ण को हमारे वृन्दावन धाम में पहुँचा दिया। हमारे घर में, समाज में, अन्तर में एक नई ज्योति प्रकाशित हुई। हमने अपने घर की स्त्रियों को 'सूर्यमुखी' और 'कमलमणि' के रूप में देखा। 'चन्द्रशेखर' और 'प्रताप' ने बंगाल के पुरुष को एक उच्चतर भावलोक पर प्रतिष्ठित किया। प्रतिदिन के क्षुद्र जीवन में महिमारश्मि का आविर्भाव हुआ।

'बंगदर्शन' से जिस अनुपम आनन्द का आस्वाद मिला उसके फलस्वरूप आज शिक्षित लोगों के मन में बांग्ला भाषा हमारे लिए काम-काज की भाषा है। लेकिन भाव की भाषा नहीं है। उन्होंने प्रत्यक्ष देखा है कि यद्यपि हम बचपन में अत्यन्त यत्नपूर्वक अंग्रेजी भाषा सीखते हैं फिर भी हमारे देश का वर्तमान स्थायी साहित्य बांग्ला में ही निर्मित हुआ है। इसका कारण यह है कि अंग्रेजी भाषा के साथ हम ऐसे घनिष्ठ आत्मीय भाव से परिचित नहीं हो सकते जिससे साहित्य का स्वाधीन भोवोच्छ्वास सहज ही प्रकाशित हो सके। अंग्रेजी भाषा पर उसका चाहे जितना प्रभुत्व हो, कोई भी बंगाली उस भाषा में अपना भाव जीवन्त रूप से व्यक्त नहीं कर पाता। जो विशेष माधुर्य, जो विशेष स्मृति-सम्पदा हमें आत्म-प्रकाशन के लिए उत्तेजित करती है, जिन संस्कारों से हमारे मन का विशेष रूप से गठन हुआ है, वे सब विदेशी भाषा में कदापि यथार्थ मुक्तिलाभ नहीं कर सकते।

इसलिए हमारे समाज के शिक्षित लोग जब भी अपने आन्तरिक भाव व्यक्त करना चाहते हैं उन्हें बांग्ला भाषा का अवलम्बन लेना पड़ता है। लेकिन वह अभिमानिनी भाषा है कहाँ? इतने दीर्घ समय तक जिसकी अवहेलना की गई है वह क्या अपना सारा सौंदर्य और गौरव लेकर शिक्षाभिमानी पुरुष के सामने आत्मसमर्पण कर देगी? हे सुशिक्षित, हे आर्य, तुम क्या इस सुकुमारी, सुकोमला यौवना भाषा की यथार्थ मर्यादा जानते हो? इसके कटाक्ष में जो उज्ज्वल हास्य है, जो अश्रुम्लान करुणा है, जो प्रखर तेज है, जो स्नेह-प्रीति भक्ति है उसका गम्भीर मर्म क्या तुमने पहचाना है, अपने हृदय में ग्रहण किया है? तुम सोचते हो– ''मैंने मिल, स्पेन्सर पढ़ रखे हैं, कितने इम्तहान पास किए हैं। मैं एक स्वाधीन, चिंतनशील, मेधावी युवक हूँ। कितने हतभागे कन्याभारग्रस्त पितागण अपनी कुमारी कन्याओं को लेकर मेरे द्वार पर खुशामद करते हैं। ऐसा होते हुए अशिक्षित ग्रामीण लोगों के घर की तुच्छ भाषा के लिए यही उचित है कि इशारा पाते ही मेरे सामने आत्मसमर्पण करके अपने को धन्य समझे। मैं जो अंग्रेजी पढ़कर बांग्ला में लिखता हूँ इससे बढ़कर सौभाग्य की बात बांग्ला के लिए दूसरी क्या हो सकती है? जो यश अंग्रेजी भाषा में मुझे अनायास ही मिल सकता है उसका त्याग करके मैं अपने बड़े-बड़े विचार इस दरिद्रयग्रस्त देश के लिए विसर्जित करता हूँ। जिस तरह जीर्ण वस्त्र, दीन पथिक राजा को देखते ही सम्मानपूर्वक रास्ता छोड़ देते हैं उसी तरह मेरे सामने आते ही भाषा की समस्त बाधा विपत्तियों को झटपट अलग हो जाना चाहिए। देखो तो, मैं तुम्हारे ऊपर कितने उपकार करता आया हूँ। पोलिटिकल इकॉनमी के संबंध में तुम लोगों को मैं कुछ बताऊँगा। जीव-राज्य से लेकर समाज और आध्यात्मिक जगत तक इवोल्यूशन का नियम किस तरह काम करता है इसके बारे में मैंने जो कुछ सीखा है वह भी मैं पूर्णतया गोपन नहीं रखूँगा। अपने ऐतिहासिक और दार्शनक निबन्धों के 'फुटनोटों' में विभिन्न भाषाओं के दुरूह ग्रन्थों से

संकलित दृष्टान्त मैं प्रस्तुत करूँगा। विदेशी साहित्य के कौन-से ग्रन्थ के बारे में किस समालोचक ने क्या कहा है यह भी बंगाली पाठक मुझसे जान सकेगा। लेकिन यदि तुम लोगों की यह जीर्णवस्त्रा, अविकसित भाषा मेरे आदेश पाते ही आगे बढ़कर मेरा अभिवादन न करे तो मैं बांग्ला में नहीं लिखूँगा– मैं वकालत करूँगा डेप्युटी-मजिस्ट्रेट बनूँगा, अँग्रेजी समाचार पत्रों के 'लीडर' लिखूँगा। इससे तुम्हारी जो क्षति होगी उसकी कोई सीमा नहीं है?''

बंगदेश के परम दुर्भाग्य से उसकी यह लज्जाशीला, तेजस्विनी, नन्दिनी, बंगभाषा ऐसे 'अच्छे लड़कों' का समुचित आदर नहीं करती – और अच्छे लड़के भी नाराज होकर बांग्ला भाषा के साथ संपर्क नहीं रखते – यहाँ तक कि बांग्ला में पत्र-व्यवहार तक नहीं करते, मित्रों से मिलने पर यथासम्भव बांग्ला में बातचीत नहीं करते, बांग्ला पुस्तकों को उपेक्षापूर्वक घर में बन्द करके रखते हैं। इसको कहते हैं छोटे पाप का भारी दण्ड।

पहले ही कह चुका हूँ, हमारे बाल्यकाल की शिक्षा में भाषा के साथ भाव नहीं होता, और जब हम बड़े होते हैं तो परिस्थिति इसके ठीक विपरीत हो जाती है – अब भाव होते हैं, लेकिन उपयुक्त भाषा नहीं होती। इस बात का भी पहले उल्लेख कर चुका हूँ कि भाषा शिक्षा के साथ-साथ भाव-शिक्षा की वृद्धि न होने से योरोपीय विचारों से हमारा यथार्थ संसर्ग नहीं होता, और इसीलिए आजकल बहुत से शिक्षित लोग योरोपीय विचारों के प्रति अनादर व्यक्त करने लगे हैं। दूसरी ओर, जिन लोगों के विचारों से मातृभाषा का दृढ़संबंध नहीं होता, वे अपनी भाषा से दूर हो जाते हैं और उसके प्रति उनके मन में अवज्ञा की भावना उत्पन्न होती है। बांग्ला भाषा का उन्हें ज्ञान नहीं होता, लेकिन इस बात को वे स्वीकार नहीं करते और कहते हैं : 'बांग्ला में कोई गम्भीर विचार कैसे व्यक्त किया जा सकता है? यह भाषा हमारे जैसे शिक्षित लोगों के लिए उपयुक्त नहीं है।' जब अंगूर हमारी पहुँच के बाहर होते हैं तब हम उन्हें खट्टा कहकर अपना समाधान करते हैं।

हम चाहे जिस दिशा में देखें, हमारी भाषा जीवन और विचारों का सामंजस्य दूर हो गया है। हमारा व्यक्तित्व विच्छिन्न होकर निष्फल हो रहा है; वह अपने बीच कोई अखण्ड ऐक्य उपलब्ध करके बलिष्ठ नहीं हो पाता, जिन चीजों की उसे जरूत है वे उसके पास नहीं हैं। एक निर्धन आदमी जाड़े के दिनों में रोज भीख माँगकर गरम कपड़ा बनाने के लिए धन-संचय करता, लेकिन यथेष्ट धन जमाने तक जाड़ा बीत जाता। उसी तरह जब तक वह गर्मी के लिए उचित कपड़े की व्यवस्था कर पाता तब तक गर्मी भी बीत जाती। एक दिन जब देवता ने उस पर तरस खाकर उसे वर माँगने के लिए कहा तो वह बोला : 'मेरे जीवन का यह हेर-फेर दूर करो, मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मैं जीवन-भर गर्मी में गरम कपड़े और सर्दी में ठण्डे कपड़े प्राप्त करता रहा हूँ। इस परिस्थिति का संशोधन करके दो – बस, मेरा जीवन सार्थक होगा।'

हमारी प्रार्थना भी यही है। हेर-फेर दूर होने से ही हमारा जीवन सार्थक होगा। हम सर्दी में गरम कपड़े और गर्मी में ठण्डे कपड़े जमा नहीं कर पाते तभी हमारा इतना दैन्य है – वरना हमारे पास है सब-कुछ। हम विधाता से यही वर माँगते हैं – हमें क्षुधा के साथ अन्न, शीत के साथ वस्त्र, भाव के साथ भाषा और शिक्षा के साथ जीवन प्राप्त करने दो। हमारी दशा तो वैसी ही है कि :

पानी में मीन पियासी, सुनत-सुनत लागे हासी।

हमारे पास पानी भी है और प्यास भी है। देखकर पृथ्वी के लोग हँसते हैं। आँखों से आँसू टपकते हैं, लेकिन हम प्यास नहीं बुझा पाते।

अंग्रेजी हटाओ भारतीय भाषा बचाओ सम्मेलन
की सफलता के लिए शुभकामनाएँ

फोन : 0542-2401621, 9415360413
Email : keshari_anil_vns@yahoo.co.in /
Web : www.masalamayur.com

अनिल कुमार केशरी

प्रदेश वरिष्ठ मंत्री - उत्तर प्रदेश उद्याग व्यापार प्रतिनिधि मण्डल
अध्यक्ष - जालपा देवी व्यापार मण्डल
महामंत्री - काशी केराना व्यापार मण्डल
मंत्री - काशी व्यापार प्रतिनिधि मण्डल

के. 64/55 गोला दीनानाथ, वाराणसी

शिक्षा का माध्यम

❑ *मोहनदास करमचंद गाँधी*

यहाँ मैं अपने कुछ अनुभव बता दूँ। 12 बरस की उम्र तक मैंने जो भी शिक्षा पाई, वह अपनी मातृभाषा गुजराती में पायी थी उस वक्त गणित, इतिहास और भूगोल का मुझे थोड़ा-थोड़ा ज्ञान था। इसके बाद मैं एक हाईस्कूल में दाखिल हुआ। उसमें भी पहले तीन साल तक तो मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम रही। लेकिन स्कूल-मास्टर का काम तो विद्यार्थियों के दिमाग में जबरदस्ती अंग्रेजी ठूँसना था। इसलिये हमारा आधे से अधिक समय अंग्रेजी और उसके मनमाने हिज्जों तथा उच्चारण पर काबू पाने में लगाया जाता था। वैसी भाषा का पढ़ना हमारे लिये एक कष्टपूर्ण अनुभव था, इसका उच्चारण ठीक उसी तरह नहीं होता जैसी कि वह लिखी जाती है। हिज्जों को कण्ठस्थ करना एक अजीब-सा अनुभव था। लेकिन यह तो मैं प्रसंगवश कह गया। वस्तुतः मेरी दलील से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मगर पहले तीन साल तो तुलनात्मक रूप में ठीक ही निकल गये।

जिल्लत तो चौथे साल से शुरू हुयी। एलजबरा (बीजगणित), केमिस्ट्री (रसायनशास्त्र), एस्ट्रानॉमी (ज्योतिष), हिस्ट्री (इतिहास), ज्यॉग्राफी (भूगोल) हरेक विषय मातृभाषा के बजाय अंग्रेजी में ही पढ़ना पड़ा। अंग्रेजी का अत्याचार इतना बड़ा था कि संस्कृत या फारसी भी मातृभाषा के बजाय अंग्रेजी के जरिये सीखनी पड़ती थी। कक्षा में अगर कोई विद्यार्थी गुजराती, जिसे कि वह समझता था, बोलता तो उसे सजा दी जाती थी। हाँ, अंग्रेजी जिसे न तो वह पूरी तरह समझ सका था और न शुद्ध बोल सकता था, अगर वह बुरी तरह बोलता तो भी शिक्षक को कोई आपत्ति नहीं होती थी। शिक्षक भला इस बातकी फिक्र क्यों करे? खुद उसकी ही अंग्रेजी निर्दोष नहीं थी। ज्सिके सिवा और हो भी क्या सकता था? क्योंकि अंग्रेजी उसके लिये भी उसी तरह विदेशी भाषा थी, जिस तरह कि उसके विद्यार्थियों के लिये थी। इससे बड़ी गड़बड़ होती। हम विद्यार्थियों को अनेक बातें कंठस्थ करनी होतीं, हालांकि हम उन्हें पूरी तरह समझ नहीं सकते थे और कभी कभी तो बिलकुल ही नहीं समझते थे। शिक्षक के ज्यॉमेट्री (रेखागणित) समझाने की भरपूर कोशिश करने पर मेरा सिर घूमने लगता। सच तो यह है कि यूक्लिड (रेखागणित) की पहली पुस्तक के 13वें साध्य तक जब तक हम न पहुँच गये, मेरी समझ में ज्यॉमेट्री बिलकुल नहीं आयी। और पाठकों के सामने मुझे यह मंजूर करना ही चाहिये कि मातृभाषा के अपने सारे प्रेम के बावजूद आज भी मैं यह नहीं जानता कि ज्यॉमेट्री, अलजबरा आदि की पारिभाषिक बातों को गुजराती में क्या कहते हैं। हां, यह अब मैं जरूर देखता हूँ कि जितना गणित, रेखागणित, बीजगणित, रसायनशास्त्र और ज्योतिष सीखने में मुझे चार साल लगे, अगर अंग्रेजी के बजाय गुजराती में मैंने उन्हें पढ़ा होता तो उतना मैंने एक ही साल में आसानी से सीख लिया होता। उस हालत में मैं आसानी और स्पष्टता के साथ उन विषयों को समझ लेता। गुजराती का मेरा शब्दज्ञान कहीं समृद्ध हो गया होता, और उस ज्ञान का मैंने अपने घर में उपयोग किया होता। लेकिन इस अंग्रेजी के माध्यम ने तो मेरे और मेरे कुटुम्बियों के बीच, जो कि अंग्रेजी में नहीं पढ़े थे, एक अगम्य खाईं खड़ी कर दी। मेरे पिता को कुछ पता न था कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैं चाहता तो भी अपने पिता की इस बात में दिलचस्पी पैदा नहीं कर सकता था कि मैं क्या पढ़ रहा हूँ। क्योंकि यद्यपि बुद्धि की उनमें कोई कमी न थी, मगर वह अंग्रेजी नहीं जानते थे। इस प्रकार अपने ही घर में मैं बड़ी तेजी के साथ अजनबी बनता जा रहा था। निश्चय ही मैं औरों से ऊँचा आदमी बन गया था। यहाँ तक कि मेरी पोशाक भी अपने-आप बदलने लगी। लेकिन मेरा जो हाल हुआ वह कोई असाधारण अनुभव नहीं था, बल्कि अधिकांश का यही हाल होता है।

हाईस्कूल के प्रथम तीन वर्ष में मेरे सामान्य ज्ञान में बहुत कम वृद्धि हुई। यह समय तो लड़कों को हर चीज अंग्रेजी के जरिये सिखाने की तैयारी का था। हाईस्कूल तो अंग्रेजों की सांस्कृतिक विजय के लिये थे। मेरे हाईस्कूल के तीन सौ विद्यार्थियों ने जो ज्ञान प्राप्त किया वह तो हमीं तक सीमित रहा, वह सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिये नहीं था।

एक-दो शब्द साहित्य बारे में भी। अंग्रेजी गद्य और

पद्य की हमें कई किताबें पढ़नी पड़ी थीं। इसमें शक नहीं कि यह सब बढ़िया साहित्य था। लेकिन सर्वसाधारण की सेवा या उसके सम्पर्क में आने में उस ज्ञान का मेरे लिये कोई उपयोग नहीं हुआ है। मैं यह कहने में असमर्थ हूँ कि मैंने अंग्रेजी गद्य और पद्य न पढ़ा होता, तो मैं एक बेशकीमती खजाने से वंचित रह जाता। जिसके बजाय, सच तो यह है कि अगर ये सात साल मैंने गुजराती पर प्रभुत्व प्राप्त करने में लगाये होते और गणित, विज्ञान तथा संस्कृत आदि विषयों को गुजराती में पढ़ा होता, तो जिस तरह प्राप्त किये हुये ज्ञान में मैंने अपने अड़ोसी-पड़ोसियों को आसानी से हिस्सेदार बनाया होता। उस हालत में मैंने गुजराती साहित्य को समृद्ध किया होता, और कौन कह सकता है कि अमल में उतारने की अपनी आदत तथा देश और मातृभाषा के प्रति अपने बेहद प्रेम के कारण सर्वसाधारण की सेवा में मैं और भी अधिक अपनी देन क्यों न दे सकता?

यह हरगिज न समझना चाहिये कि अंग्रेजी या उसके श्रेष्ठ साहित्य का मैं विरोधी हूँ। 'हरिजन' मेरे अंग्रेजी के प्रेम का पर्याप्त प्रमाण है। लेकिन उसके साहित्य की महत्ता भारतीय राष्ट्र के लिये इंग्लैण्ड के समशीतोष्ण जलवायु या वहाँ के सुन्दर दृश्यों से अधिक उपयोगी नहीं है। भारत को तो अपने ही जलवायु, दृश्यों और साहित्य में तरक्की करनी होगी, फिर चाहे ये अंग्रेजी जलवायु, दृश्यों और साहित्य से घटिया दर्जे के ही क्यों न हों। हमें और हमारे बच्चों को तो अपनी खुद की ही विरासत बनानी चाहिये। अगर हम दूसरों की विरासत लेंगे, तो हमारी नष्ट हो जायगी। सच तो यह है कि विदेशी सामग्री पर हम कभी उन्नति नहीं कर सकते। मैं तो चाहता हूँ कि राष्ट्र अपनी ही भाषा का कोष भरे और इसके लिये संसार की अन्य भाषाओं का कोष भी अपनी ही देशी भाषाओं में संचित करे। रवीन्द्रनाथ की अनुपम कृतियों का सौन्दर्य जानने के लिये मुझे बंगाली पढ़ने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि सुन्दर अनुवादों के द्वारा मैं उसे पा लेता हूँ। इसी तरह टॉल्स्टॉय की संक्षिप्त कहानियों की कद्र करने के लिये गुजराती लड़के-लड़कियों को रूसी भाषा पढ़ने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि अच्छे अनुवादों के जरिये वे उन्हें पढ़ लेते हैं। अंग्रेजों को इस बात का अभिमान है कि संसार की सर्वोत्तम साहित्यिक रचनायें प्रकाशित होने के एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर सरल अंग्रेजी में उनके हाथों में आ पहुँचती हैं। ऐसी हालत में, शेक्सपीयर और मिल्टन के सर्वोत्तम विचारों और रचनाओं के लिये मुझे अंग्रेजी पढ़ने की जरूरत क्यों हो?

यह एक तरह की अच्छी मितव्ययिता होगी कि ऐसे विद्यार्थियों का अलग ही एक वर्ग कर दिया जाय, जिनका काम यह हो कि संसार की विभिन्न भाषाओं में पढ़ने लायक जो सर्वोत्तम सामग्री हो, उसको वे पढ़ें और देशी भाषाओं में उसका अनुवाद करें। हमारे प्रभुओं ने तो हमारे लिये गलत ही रास्ता चुना है, और आदत पड़ जाने के कारण गलत ही हमें सही मालूम पड़ने लगता है।

हमारी इस झूठी अभारतीय शिक्षा से लाखों आदमियों का दिन-दिन जो लगातार नुकसान हो रहा है, उसके तो मैं रोज ही प्रमाण पा रहा हूँ। जो ग्रेज्युएट मेरे आदरणीय साथी हैं, उन्हें जब अपने आन्तरिक विचारों को व्यक्त करना पड़ता है, तो वे खुद परेशान हो जाते हैं। वे तो अपने ही घरों में अजनबी हैं। अपनी मातृभाषा के शब्दों का उनका ज्ञान इतना सीमित है कि अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों तक का सहारा लिये बगैर वे अपने भाषण को समाप्त नहीं कर सकते। न अंग्रेजी किताबों के बगैर वे रह सकते हैं। आपस में भी वे अकसर अंग्रेजी में लिखा-पढ़ी करते हैं। अपने साथियों का उदाहरण मैं यह बताने के लिये दे रहा हूँ कि इस बुराई ने कितनी गहरी जड़ जमा ली है। क्योंकि हम लोगों ने अपने को सुधारने का जान-बूझकर प्रयत्न किया है।

हमारे कालेजों में जो यह समय की बरबादी होती है उसके पक्ष में दलील यह दी जाती है कि कालेजों में पढ़ने के कारण इतने विद्यार्थियों में से अगर एक जगदीश बोस भी पैदा हो सके, तो हमें इस बरबादी की चिन्ता करने की जरूरत नहीं। अगर यह बरबादी अनिवार्य होती, तो मैं जरूर इस दलील का समर्थन करता। लेकिन मैं आशा करता हूँ कि मैंने यह बतला दिया है कि यह न तो अनिवार्य थी, और न आज ही अनिवार्य है। क्योंकि जगदीश बोस कोई वर्तमान शिक्षा की उपज नहीं थे। वह तो भयंकर कठिनाइयों और बाधाओं के बावजूद अपने परिश्रम की बदौलत ऊँचे उठे। और उनका ज्ञान लगभग ऐसा बन गया जो सर्वसाधारण तक नहीं पहुँच सकता। बल्कि मालूम ऐसा पड़ता है कि हम यह सोचने लगे हैं कि जब तक कोई अंग्रेजी न जाने, तब तक वह बोस के सदृश महान वैज्ञानिक होने की आशा नहीं कर सकता।

यह ऐसी मिथ्या धारणा है कि जिससे अधिक की मैं कल्पना ही नहीं कर सकता। जिस तरह हम अपने को लाचार समझते मालूम पड़ते हैं, उस तरह एक भी जापानी अपने को नहीं समझता।

शिक्षा का माध्यम तो एकदम और हर हालत में बदला जाना चाहिये, और प्रान्तीय भाषाओं को उनका वाजिब स्थान मिलना चाहिये। यह जो काबिले-सजा बर्बादी रोज-ब-रोज हो रही है, जिसके बजाय तो अस्थाई रूप से अव्यवस्था हो जाना भी मैं पसन्द करूँगा।

प्रान्तीय भाषाओं का दरजा और व्यावहारिक मूल्य बढ़ाने के लिये मैं चाहूँगा कि अदालतों की कार्रवायी अपने-अपने प्रान्त की ही भाषा में हो। प्रान्तीय धारासभाओं (विधानसभाओं) की कार्रवाई भी प्रान्तीय भाषा या जहाँ एक से अधिक भाषाएँ प्रचलित हों वहाँ उनमें होनी चाहिये। धारासभाओं के सदस्यों से मैं कहना चाहता हूँ कि वे चाहें तो एक महीने के अन्दर-अन्दर अपने प्रान्तों की भाषाएँ भली-भाँति समझ सकते हैं। तामिल-भाषी के लिये जैसी कोई रुकावट नहीं कि वह तेलगु, मलयालम और कन्नड़ के , जो कि सब तामिल से मिलती-जुलती ही हैं, मामूली व्याकरण और कुछ सौ शब्दों को आसीन से न सीख सके। केन्द्र में हिन्दुस्तानी का सर्वोच्च स्थान होना चाहिये।

मेरी सम्मति में यह कोई ऐसा प्रश्न नहीं है जिसका निर्णय साहित्यज्ञों के द्वारा हो। वे जिस बात का निर्णय नहीं कर सकते कि किस स्थान के लड़के-लड़कियों की पढ़ाई किस भाषा में हो। क्योंकि जिस प्रश्न का निर्णय तो हरेक स्वतन्त्र देश में पहले ही हो चुका है। न वे यही निर्णय कर सकते हैं कि किन विषयों की पढ़ाई हो, क्योंकि यह उस देश की आवश्यकताओं पर निर्भर करता है इस देश के बालकों की पढ़ाई होती है। उन्हें तो बस यही सुविधा प्राप्त है कि राष्ट्र की इच्छा को यथासंभव सर्वोत्तम रूप में अमल में लायें। अतः अब हमारा देश वस्तुतः स्वतंत्र होगा, तब शिक्षा के माध्यम का प्रश्न केवल एक ही तरह से हल होगा। साहित्यिक लोग पाठ्यक्रम बनायेंगे और फिर उसके अनुसार पाठ्यपुस्तकें तैयार करेंगे, और स्वतंत्र भारत की शिक्षा पाने वाले विदेशी शासकों को करारा जवाब देंगे। जब तक हम शिक्षित वर्ग जिस प्रश्न के साथ खिलवाड़ करते रहेंगे, मुझे जिस बात का बहुत भय है कि हम जिस स्वतंत्र और स्वस्थ भारत का स्वप्न देखते हैं उसका निर्माण नहीं कर पायेंगे। हमें तो सतत प्रयत्नपूर्वक अपनी गुलामी से मुक्त होना है, फिर वह चाहे शिक्षणात्मक हो या आर्थिक अथवा सामाजिक या राजनीतिक हो। तीन-चौथायी लड़ायी तो वही प्रयत्न होगा, जो कि जिसके लिये किया जायेगा।

बालकों पर विदेशी माध्यम का असर

मेरा यह विश्वास है कि राष्ट्र के जो बालक अपनी मातृभाषा के बजाय दूसरी भाषा में शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे आत्महत्या ही करते हैं। यह उन्हें अपने जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित करती है। विदेशी माध्यम से बालकों पर अनावश्यक जोर पड़ता है। वह उनकी सारी मौलिकता नाश कर देता है। विदेशी माध्यम से उनका विकास रुक जाता है और वे अपने घर और परिवार से अलग पड़ जाते हैं। इसलिए मैं इस चीज को पहले दरजे का राष्ट्रीय संकट मानता हूँ।

(विथ गाँधी जी इन सीलोन, पृ0 106)

इस विदेशी भाषा के माध्यम ने बच्चों के दिमाग को शिथिल कर दिया है, उनके स्नायुओं पर अनावश्यक जोर डाला है, उन्हें रट्टू और नकलची बना दिया है तथा मौलिक कार्यों और विचारों के लिये सर्वथा अयोग्य बना दिया है। जिसकी वजह से वे अपनी शिक्षा का सार अपने परिवार के लोगों तथा आम जनता तक पहुँचाने में असमर्थ हो गये हैं। विदेशी माध्यम ने हमारे बालकों को अपने ही घर में पूरा विदेशी बना दिया है। यह वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का सबसे करुण पहलू है। विदेशी माध्यम से हमारी देशी भाषाओं की प्रगति और विकास को रोक दिया है। अगर मेरे हाथों में तानाशाही सत्ता हो, तो मैं आज से ही विदेशी माध्यम के जरिये हमारे लड़कों और लड़कियों की शिक्षा बन्द कर दूँ और सारे शिक्षकों और प्रोफेसरों से यह माध्यम बदलवा दूँ या उन्हें बरखास्त करा दूँ। मैं पाठ्यपुस्तकों की तैयारी का इन्तजार नहीं करूँगा। वे तो माध्यम के परिवर्तन के पीछे-पीछे चली आयेंगी। यह एक जैसी बुराई है, जिसका तुरन्त इलाज होना चाहिये।

बच्चों पर अंग्रेजी लादने का अर्थ है उनके कुदरती विकास को कुंठित कर देना और शायद उनकी मौलिकता को नष्ट कर देना। किसी भाषा को सीखने का अर्थ है मुख्यतः स्मरण-शक्ति को विकसित करने की तालीम पाना। बच्चों को शुरू से ही अंग्रेजी सिखाना उन पर अनावश्यक बोझ डालना है। मातृभाषा की कीमत देकर ही वे उसे

सीख सकते हैं। शहरों या गाँवों दोनों जगह के बच्चों के लिये मैं यह जरूरी मानता हूँ कि उनके विकास की बुनियाद मातृभाषा की मजबूत चट्टान पर रखी जाय। यह बात अभागे हिन्दुस्तान में ही देखने में आती है कि ऐसी स्पष्ट वस्तु को भी सिद्ध करना पड़ता है।

इसमें मुझे जरा भी शंका नहीं कि जिन लोगों के हाथ में बच्चों को शिक्षा देने का काम है, वे केवल निश्चय कर लें तो उन्हें पता चल जाएगा कि मातृभाषा मनुष्य के विकास के लिये उतनी ही स्वाभाविक है, जितना छोटे बच्चे के शरीर के विकास के लिये माँ का दूध। और कुछ हो भी कैसे सकता है? बच्चा अपना पहला पाठ अपनी माँ से ही सीखता है। इसलिये मैं बच्चों के मानसिक विकास के लिये उन पर माँ की भाषा को छोड़कर दूसरी कोई भाषा लादना मातृभूमि के प्रति पाप समझता हूँ।

(किताबिस्तान, इलाहाबाद से प्रकाशित श्री एस0एन0 अग्रवाल की पुस्तक 'मीडियम ऑफ इन्स्ट्रक्शन' में लिखी गाँधीजी की प्रस्तावना से।)

अंग्रेजी बनाम मातृभाषा

अंग्रेजी आन्तर-राष्ट्रीय व्यापार की भाषा है, वह कूटनीतिकी भाषा है, उसका साहित्यिक भंडार बहुत समृद्ध है और वह पश्चिमी विचारों और संस्कृति से हमारा परिचय कराती है। इसलिये हममें से कुछ लोगों के लिये अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक है। वे लोग राष्ट्रीय व्यापार और अन्तर-राष्ट्रीय कूटनीति के विभाग तथा हमारे राष्ट्र को पश्चिमी साहित्य, विचार और विज्ञान की उत्तम वस्तुएँ देने वाला विभाग चला सकते हैं। वह अंग्रेजी का उचित उपयोग होगा, जब कि आज अंग्रेजी ने हमारे हृदयों में प्रिय से प्रिय स्थान हड़प लिया है और हमारी मातृभाषाओं को अपने अधिकार के स्थान से हटा दिया है। अंग्रेजी को यह जो अस्वाभाविक स्थान मिल गया है, उसका कारण है अंग्रेजों के साथ हमारे असमान सम्बन्ध। अंग्रेजी के ज्ञान के बिना भी भारतीयों के दिमाग का ऊँचे से ऊँचा विकास होना चाहिये। हमारे लड़कों और लड़कियों को यह सोचने के लिये प्रोत्साहित करना कि अंग्रेजी के ज्ञान के बिना उत्तम समाज में प्रवेश नहीं मिल सकता, भारत के पुरुषत्व और खास करके स्त्रीत्व की हिंसा करना है। यह इतना अपमानजनक विचार है, जो सहन नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी के मोह से छूटना स्वराज्य का एक आवश्यक और अनिवार्य तत्त्व है।

यह मेरा निश्चित मत है कि आज की अंग्रेजी शिक्षा ने शिक्षित भारतीयों को निर्बल और शक्तिहीन बना दिया है, जिसने भारतीय विद्यार्थियों की शक्ति पर भारी बोझ डाला है, और हमें नकलची बना दिया है। देशी भाषाओं को अपनी जगह से हटा कर अंग्रेजी को बैठाने की प्रक्रिया अंग्रेजों के साथ हमारे सम्बन्ध का एक सबसे दुःखद प्रकरण है। राजा राममोहनराय ज्यादा बड़े सुधारक हुए होते और लोकमान्य तिलक ज्यादा बड़े विद्वान बने होते, अगर उन्हें अंग्रेजी में सोचने और अपने विचारों को दूसरों तक मुख्यतः अंग्रेजी में पहुँचाने की कठिनाई से आरम्भ नहीं करना पड़ता। अगर वे थोड़ी कम अस्वाभाविक पद्धति में पढ़-लिख कर बड़े होते, तो अपने लोगों पर उनका असर, जो कि अद्भुत था, और भी ज्यादा होता। जिसमें कोई शक नहीं कि अंग्रेजी साहित्य के समृद्ध भंडार का ज्ञान प्राप्त करने से इन दोनों को लाभ हुआ। लेकिन जिस भंडार तक उनकी पहुँच उनकी अपनी मातृभाषाओं के जरिये होनी चाहिये थी। कोयी भी देश नकलचियों की जाति पैदा करके राष्ट्र नहीं बन सकता।

मेरी मातृभाषा में कितनी ही खामियाँ क्यों न हों, मैं उससे उसी तरह चिपटा रहूँगा, जिस तरह अपनी माँ की छाती से। वही मुझे जीवन प्रदान करने वाला दूध दे सकती है। मैं अंग्रेजी को उसकी अपनी जगह पर प्यार करता हूँ। लेकिन अगर वह उस जगह को हड़पना चाहती है, जिसकी वह हकदार नहीं है, तो मैं उससे सख्त नफरत करूँगा। यह बात मानी हुयी है कि अंग्रेजी आज सारी दुनिया की भाषा बन गयी है। इसलिये मैं इसे दूसरी भाषा के नाते जगह दूँगा, लेकिन युनिवर्सिटी के पाठ्यक्रम में, स्कूलों में नहीं। वह कुछ चुने हुये लोगों के सीखने की चीज हो सकती है, लाखों-करोड़ों की नहीं। **आज जब हमारे पास प्राथमिक शिक्षा को भी देश में अनिवार्य बनाने के साधन नहीं है, तो हम अंग्रेजी सिखाने के साधन कहाँ से जुटा सकते हैं?** रूस ने बिना अंग्रेजी के विज्ञान में इतनी उन्नति कर ली है। आज हम अपनी मानसिक गुलामी की वजह से ही यह मानने लग गये हैं कि अंग्रेजी के बिना हमारा काम नहीं चल सकता। मैं काम शुरू करने से पहले ही हार मान लेने की जिस निराशापूर्ण वृत्ति को कभी स्वीकार नहीं कर सकता।

जापान का उदाहरण

जापान की कुछ बातें सचमुच हमारे लिये अनुकरणीय

हैं। जापान के लड़कों और लड़कियों ने यूरोप से जो कुछ पाया है, अपनी मातृभाषा जापानी के जरिये ही पाया है, अंग्रेजी के जरिये नहीं। जापानी लिपि बड़ी कठिन है, फिर भी जापानियों ने रोमन लिपि को कभी नहीं अपनाया। उनकी सारी तालीम जापानी लिपि और जापानी भाषा के जरिये ही होती है। जो चुने हुये जापानी पश्चिमी देशों में खास प्रकार की शिक्षा के लिये भेजे जाते हैं, वे भी जब आवश्यक ज्ञान पाकर लौटते हैं, तो अपना सारा ज्ञान अपने देशवासियों को जापानी भाषा के जरिये ही देते हैं। अगर वे ऐसा न करते और देश में आकर दूसरे देशों के जैसे स्कूल और कालेज अपने यहाँ भी बना लेते, और अपनी भाषा को तिलांजलि देकर अंग्रेजी में सब कुछ पढ़ाने लगते, तो उससे बढ़कर बेवकूफी और क्या होती? जिस तरीके से जापानवाले नयी भाषा तो सीखते, लेकिन नया ज्ञान न सीख पाते।

जापानियों ने जितनी तेजी से तरक्की की, इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने देश में पश्चिमी ढंग की शिक्षा को कुछ चुने हुये लोगों तक ही सीमित रखा और उनके द्वारा जापानियों में पश्चिम के नये ज्ञान का प्रचार जापानी भाषा के जरिये ही करवाया। यह तो हर कोई आसानी से समझ सकता है कि अगर जापान वाले किसी विदेशी भाषा के जरिये यह सारा काम करते, तो वे पश्चिम के नये तरीकों को कभी न अपना पाते।

शीघ्र काम करने की जरूरत

यदि शिक्षा का माध्यम धीरे-धीरे बदलने के बजाय एकदम बदल दिया जाय, तो बहुत ही शीघ्र हम यह देखेंगे कि आवश्यकता को पूरा करने के लिये पाठ्यपुस्तकें भी प्राप्त हो रही हैं और अध्यापक भी। और अगर हम ईमानदारी से काम करना चाहते हैं, तो एक ही साल में हमें यह मालूम हो जायेगा कि विदेशी माध्यम द्वारा संस्कृति के आवश्यक तत्त्व सीखने के प्रयत्न में राष्ट्र का समय और शक्ति नष्ट करने में हमें भागीदार नहीं होना चाहिये था। बेशक, सफलता की शर्त यह है कि सरकारी दफ्तरों में और अगर प्रान्तीय सरकारों का अपनी अदालतों पर अधिकार या प्रभाव हो तो उन अदालतों में भी प्रान्तीय भाषाएँ तुरन्त जारी कर दी जायँ। यदि इस सुधार की आवश्यकता में हमारा विश्वास हो, तो हम उसमें तुरन्त सफल हो सकते हैं।

यह कहना बिल्कुल गलत है कि मातृभाषा के जरिये टेकनिकल तालीम देने के लिये बड़ी तैयारी और बड़ी खोज की जरूरत होगी। जो यह दलील पेश करते हैं, वे नहीं जानते कि हमारे गाँवों की बोलियाँ हर तरह की बातों को समझाने वाले शब्दों और मुहावरों से भरी हुयी हैं। टेकनिकल तालीम के लायक शब्दों की खोज में हमें संस्कृत या फारसी की शरण में नहीं जाना पड़ेगा। मैं जब चम्पारन में रहता था, तब मैंने देखा कि गाँव के लोग एक भी विदेशी शब्द या मुहावरे की सहायता लिये बिना अपने विचार बड़ी आसानी से पूरी तरह समझा सकते थे। उन्होंने मोटर के लिये अपना ही नाम 'हवागाड़ी' ढूंढ़ निकाला था। मेरा खयाल है कि युनिवर्सिटी के विद्वान लोग भी मोटर के लिये इससे ज्यादा सुन्दर नाम नहीं गढ़ सकते।

उच्च शिक्षण

मैं आशा करता हूँ कि यह यूनिवर्सिटी इस बात का प्रबंध करेगी कि जो युवक-युवतियाँ यहाँ पढ़ने आवें, उन्हें उनकी मातृभाषाओं के जरिये शिक्षा मिले। हमारी भाषा हमारा अपना प्रतिबिम्ब होती है, और अगर आप कहें कि हमारी भाषायें उत्तम विचारों को प्रकट करने में असमर्थ हैं, तो मैं कहूँगा कि जितनी जल्दी इस दुनिया से हमारा अस्तित्व मिट जाय उतना ही अच्छा होगा। क्या यहाँ एक भी ऐसा आदमी है, जो यह सपना देखता हो कि अंग्रेजी कभी हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा बन सकती है? ('कभी नहीं' की आवाजें) राष्ट्र पर यह विदेशी माध्यम का बोझ किसलिये? एक क्षण के लिए तो सोचिये कि हमारे लड़कों को हर अंग्रेज लड़के के साथ कैसी असमान दौड़ दौड़नी पड़ती है। मुझे पूना के कुछ प्रोफेसरों के साथ गहरी चर्चा करने का सुअवसर मिला था। उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाया कि हरेक भारतीय नौजवान अंग्रेजी भाषा के जरिये ज्ञान प्राप्त करने के कारण अपने जीवन के कम से कम 6 बहुमूल्य वर्ष खो देता है। इसके साथ उन विद्यार्थियों की संख्या का गुणा कीजिये, जो अभी तक हमारे स्कूलों और कालेजों से निकले हैं और खुद ही देख लीजिये कि हमारे राष्ट्र ने कितने हजार वर्ष गंवा दिये हैं। हम पर यह आरोप लगाया जाता है कि हममें किसी प्रकार की मौलिकता और सूझ-बूझ नहीं है। अगर हमें अपने जीवन के बेशकीमती साल विदेशी भाषा पर अधिकार करने में खर्च करने पड़ें, तो हममें यह गुण कैसे हो सकता है? और हम अंग्रेजी पर अधिकार प्राप्त करने के प्रयत्न में भी असफल रहते हैं।........मैंने लोगों को यह कहते सुना

है कि आखिर में तो अंग्रेजी शिक्षा पाये हुये हिन्दुस्तानी ही देश का नेतृत्व कर रहे हैं और राष्ट्र के लिये सब कुछ कर रहे हैं। ऐसा ही होना चाहिये। अगर इससे भिन्न बात होती तो वह भयंकर मानी जाती। हमें जो भी शिक्षा मिलती है, वह अंग्रेजी शिक्षा ही है। बेशक, उसके बदले में हमें कुछ तो कर दिखाना चाहिये। लेकिन मान लीजिये कि पिछले 50 वर्षों में हमें अपनी मातृभाषाओं के जरिये शिक्षा मिलती, तो आज हमारे देश की क्या स्थिति होती? आज हमारा भारत स्वतंत्र होता; हमारे शिक्षित लोग अपने ही देश में परदेशी नहीं बन जाते, बल्कि राष्ट्र के हृदय से बातें करते; वे गरीब से गरीब लोगों में काम करते होते और पिछले 50 वर्षों में उन्होंने जो कुछ भी प्राप्त किया होता, वह सब राष्ट्र की विरासत बन जाता (तालियाँ)। आज तो हमारी अपनी पत्नियाँ भी हमारे उत्तम विचारों में भाग नहीं ले सकतीं। प्रो0 बोस और प्रो0 राय और उनकी बढ़िया महत्वपूर्ण खोजों को देखिये। क्या यह शर्म की बात नहीं है कि उनकी ये खोजें हमारी आम जनता की सम्पत्ति नहीं हैं?

हमें जो कुछ उच्च शिक्षा मिली है अथवा जो भी शिक्षा मिली है, वह केवल अंग्रेजी के ही द्वारा न मिली होती, तो ऐसी स्वयंसिद्ध बात को दलीलें देकर सिद्ध करने की कोई जरूरत न होती कि किसी भी देश के बच्चों को अपनी राष्ट्रीयता टिकाये रखने के लिये नीची या ऊँची सारी शिक्षा उनकी मातृभाषा के जरिये ही मिलनी चाहिये। यह स्वयंसिद्ध बात है कि जब तक किसी देश के नौजवान ऐसी भाषा में शिक्षा पाकर उसे पचा न लें जिसे प्रजा समझ सके, तब तक वे अपने देश की जनता के साथ न तो जीता-जागता संबंध पैदा कर सकते हैं और न उसे कायम रख सकते हैं। आज जिस देश के हजारों नौजवान एक ऐसी विदेशी भाषा और उसके मुहावरों पर अधिकार पाने में कई साल नष्ट करने को मजबूर किये जाते हैं, जो उनके दैनिक जीवन के लिये बिलकुल बेकार हैं और जिन्हें सीखने में उन्हें अपनी मातृभाषा या उसके साहित्य की उपेक्षा करनी पड़ती है। जिससे होने वाली राष्ट्र की अपार हानि का अंदाजा कौन लगा सकता है? इससे बढ़कर कोई वहम कभी था ही नहीं कि फला भाषा का विकास हो ही नहीं सकता या उसके द्वारा गूढ़ अथवा वैज्ञानिक विचार समझाये ही नहीं जा सकते। भाषा तो अपने बोलने वालों के चरित्र और विकास का सच्चा प्रतिबिम्ब है।

विदेशी शासन के अनेक दोषों में, देश के नौजवानों पर डाला गया विदेशी भाषा के माध्यम का घातक बोझ इतिहास में एक सबसे बड़ा दोष माना जायेगा। जिस माध्यम ने राष्ट्र की शक्ति हर ली है, विद्यार्थियों की आयु घटा दी है, उन्हें आम लोगों से दूर कर दिया है और शिक्षण को बिना कारण खर्चीला बना दिया है। अगर यह प्रक्रिया अब भी जारी रही, तो जान पड़ता है यह राष्ट्र की आत्मा को नष्ट कर देगी। इसलिये शिक्षित भारतीय जितनी जल्दी विदेशी माध्यम के भयंकर वशीकरण से निकल जाँय, उनता ही उनका और जनता का लाभ होगा।

देहातों में लोगों में भूत चढ़ता है तो ओझा को बुलाकर मंतर से झड़वाते हैं, ओझा का मंतर लोग समझन लगें तो उसकी ओझाई और भूत दोनों खतम हो जाँय। उसी तरह आज देश के वकील, डॉक्टर और मंत्री अंगरेजी भाषा में ओझाई चला रहे हैं

— राम मनोहर लोहिया

अंग्रेजी हटाओ भारतीय भाषा बचाओ सम्मेलन
की सफलता के लिए शुभकामनाएँ

श्रीमती 'भारती' राजेश्वरी
प्रधानाध्यापिका
डवक, जमालपुर, मीरजापुर

अंग्रेजी हटाओ का मतलब

❑ *राममनोहर लोहिया*

अंग्रेजी जबान अब हिन्दुस्तान के सार्वजनिक मामलों से खत्म हो जानी चाहिए। इसमें देर करना न केवल भाषा के मसले को उलझा देना होगा और बिगाड़ देना होगा, बल्कि देश के दूसरे मसलों को भी बिगाड़ देना होगा। भाषा से देश के सभी मसलों का सम्बन्ध है। किस जबान में सरकार का काम चलता है, इससे समाजवाद तो छोड़ ही दो, प्रजातंत्र भी छोड़ो, ईमानदारी और बेईमानी का सवाल तक जुड़ा हुआ है। यदि सरकारी और सार्वजनिक काम ऐसी भाषा में चलाये जाए, जिसे देश के करोड़ों आदमी न समझ सकें तो होगा केवल एक प्रकार का जादू टोना। जिस किसी देश में जादू-टोना-टोटका चलता है वहाँ क्या होता है? जिन लोगों के बारे में मशहूर हो जाता है कि वहाँ जादू वगैरह से बीमारियां आदि अच्छी कर सकते हैं उनकी बन आती है। लाखों-करोड़ों उनके फंदे में फंसे रहते हैं। ठीक ऐसे ही जबान का मसला है। जिन जबान को करोड़ों लोग समझ नहीं पाते, उनके बारे में यही समझते हैं कि यह कोई गुप्त विद्या है, जिसे थोड़े लोग ही जान सकते हैं। ऐसी जबान में जितना चाहे झूठ बोलिये, धोखा कीजिये, सब चलता रहेगा, क्योंकि लोग समझेंगे ही नहीं। आज शासन में लोगों की दिलचस्पी हो तो कैसे हो? वह कुछ जान ही नहीं पाते कि क्या लिखा है, क्या हो रहा है। सब काम केवल थोड़े से अंग्रेजी पढ़े लोगों के हाथ में है। बाकी लोगों पर इन सबका वही असर पड़ता है—जो जादू-टोने या गुप्त विद्या का। अपने देश में पहले से ही अमीरी-गरीबी, जात-पात, धर्म और पढ़े-बेपढ़े के आधार पर जबरदस्त खाई है। यह विदेशी भाषा उस खाई को और चौड़ा कर रही है। अपनी भाषाएँ पढ़े-लिखे केवल दस फीसदी लोग हो सकते हैं पर समझ सब सकते हैं लेकिन अंग्रेजी तो अधिक से अधिक 100 में से एक आदमी समझ सकता है, वह भी मुश्किल से। मैंने जानबूझकर अपनी भाषा कहा है, हिन्दी नहीं कहा। देश में और भी भाषाएँ है, केवल हिन्दी नहीं, और सभी एक-सी हैं।

मैं फिलहाल हिन्दी और अंग्रेजी के बारे में कहूँगा। देश की अपनी भाषाओं के सम्बन्ध में भी बाद में आपका ध्यान खीचूँगा, पर इतना समझ लें कि झगड़ा हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं और अंग्रेजी के बीच है, हिन्दी और दूसरी भाषाओं के बीच नहीं। यह गलती पिछले 10 वर्षों से सरकार की ओर से होती रही है। हमें नहीं करना है।

मेरी समझ में वे लोग बेवकूफ हैं जो अंग्रेजी के रहते हुए समाजवाद कायम करना चाहते हैं। वे भी बेवकूफ हैं जो कहते हैं कि अंग्रेजी रहने पर जनतंत्र भी आ सकता है। हम तो समझते हैं कि अंग्रेजी के होते यहाँ ईमानदारी आना भी असम्भव है। थोड़े से लोग इस अंग्रेजी के जादू द्वारा करोड़ों को धोखा देते रहेंगे। आप कहेंगे कि बेईमानी चलेगी। जब कोई किसी अफसर से मिलने जाता है तो उसका काम होना इस पर भी निर्भर रहता है कि उसके कपड़े कैसे हैं। सफेद कपड़े पहनने वाले का काम वह जल्दी करता है, क्योंकि आमतौर पर सफेद कपड़े वाला ही अंग्रेजी जानने वाला भी होता है। इसी तररह हमारे अफसर आपसी बातचीत में भी अंग्रेजी का ही इस्तेमाल करते हैं। दूसरे लोग उनके चारों ओर और मातहत भी ऐसे ही लोग रह पाते हैं, जो अंग्रेजी जानें। हिन्दुस्तान के करोड़ों लोग इन अफसरों की बातें समझ ही नहीं पाते और उन्हें अंग्रेजी जानने वाले दलालों की मदद लेनी पड़ती है। दूसरों के रिश्तेदारों की जो आमतौर पर ऊँची जात वाले ही होते हैं, बन आती है और कुनबापरस्ती का बाजार गर्म होता है। अपने रिश्तेदारों और सम्बन्धियों को ही वे अपने साथ नौकरी पर रखते हैं। इसका कारण यह है कि वे अंग्रेजी अच्छी तरह जानते हैं और उनसे काम चल जाता है, जो अंग्रेजी नहीं जानते उनका गुजारा नहीं हो पाता। इसी तरह अफसरों की बातें हिन्दुस्तान के करोड़ों लोग नहीं समझ पाते और जो दलाल वगैरह होते हैं, उन्हें पैसा बनाने का मौका मिल जाता है। यह सब चलता रहता है। कानून वगैरह सब अंग्रेजी में बनाते हैं, जिससे जनता को उनका मतलब समझने में दिक्कत होती है और अफसरों को अपना काम निकालने में आसानी रहती है। कहने का मतलब यह है कि जब तक अंग्रेजी की बीमारी बनी रहेगी, तब तक ईमानदारी कायम हो ही नहीं सकती। एकदम नामुमकिन है। मेरा यह मतलब नहीं कि अंग्रेजी के खतम होते ही ईमानदारी आ जाएगी। हां, इतना मेरा विश्वास है कि अंग्रेजी खतम हो जाएगी तभी ईमानदारी कायम हो सकती है और हो भी जाएगी।

भाषा की वजह से सब बातें लोग समझ ही नहीं पाते और खुफिया तौर पर ही यह सब बेइमानियाँ चलती रहती हैं। खुफिया से मतलब यहाँ आम जनता से छिपी हुई ही है। इन सब कार्यवाहियों में हिन्दुस्तान में करीब तीस लाख अंग्रेजीदां लोगों के अलावा किसी की दिलचस्पी या शिरकत नहीं है। 40 करोड़ लोग इन 30 लाख के आपसी झगड़े और तनावों से अपने को दूर रखते हैं। वे पस्त हो चुके हैं और उनका केवल यही कहना रहता है कि हमें क्या, कोई बने। सामान्य लोगों को न तो इतनी समझ ही है कि इस व्यापार को समझें और न दिलचस्पी ही। वहीं 30 लाख लोग आपस में बँटवारा कर लेते हैं और उन्हीं के बीच सारी छीना-झपटी चलती रहती है। यह सब बातें 40 करोड़ तक पहुँचे तो ऐसे कामों का चलना मुश्किल हो जाए। 40 करोड़ तक पहुँच पाने की पहली शर्त यही है कि सब काम ऐसी भाषा में हो जिसे आम लोग समझ पायें। उस समय योग्यता का चुनाव भी केवल 30 लाख में से नहीं बल्कि 40 करोड़ में से होगा। योग्यता भी

हिन्दी-उर्दू आदि दूसरी भाषाओं के आधार पर देखी और जाँची जाएगी।

इस भाषा के घपले की वजह से हमारी पलटन में भी काफी असन्तोष है। हिन्दुस्तान में पलटन की हालत कोई अच्छी नहीं चल रही है। अफसर काफी नाखुश हैं। देश की पलटन का असन्तुष्ट रहना कितना खतरनाक हो सकता है, खासतौर पर तब जब उस असन्तोष का कारण भी सही हो। असन्तोष का एक हिस्सा तो नौकरी और तनख्वाहों की वजह से है सो उसको तो मैं छोड़ देता हूँ, पर एक दूसरा हिस्सा सबके ध्यान देने लायक है। हमारे यहाँ सिविल अफसर का ओहदा पलटनी अफसर से ऊँचा समझा जाता है। सिविल नौकरी का बाबू तक पलटनी बाबू से ऊँचा रहता है। आप इससे इस चीज को समझ लीजिए कि जब रक्षा विभाग में ऊँचे पलटनी अफसरों की बैठक होती है तो उसका सभापतित्व एक सिविल अफसर, जो रक्षा सचिव होता है, करता है। यह भी नहीं कि रक्षा-मंत्री ही कर ले। पुराने वक्त से ही हमारे यहाँ यह चला आ रहा है कि पलटन के ऊँचे अफसरों की अंग्रेजी बहुत अच्छी होनी चाहिए। पहले ऊँचे अफसर विलयात से पढ़कर ही आते थे तो सीख भी जाते थे, पर अभी भी यह हाल है कि बिना अंग्रेजी का बढ़िया ज्ञान हुए ऊँची अफसरी मिलना मुश्किल है। अब भला बताइए पलटनी अफसरों की योग्यता इस बात से परखी जाएगी कि वह अंग्रेजी कैसी बोलता है या इस बात से कि वह दुश्मन का मुकाबला कितनी अच्छाई से कर सकता है और लड़ाई की कला कैसी जानता है। पिछली लड़ाई का सबसे बड़ा जनरल एक जर्मन था और अंग्रेजी का एक लफ्ज भी नहीं जानता था, हाँ, लड़ना जानता था। हिन्दुस्तान में एक से एक वीर जातियां बसती हैं। वे लड़ाई की कला में प्रतिभा दिखा सकती हैं। पर अफसरी के लिए उन्हें सीखनी पड़ती है अंग्रेजी। न सीखे तो अफसर नहीं बन सकते। केवल भाषा की वजह से ही उनकी काबिलियत का इस्तेमाल नहीं हो पाता। इसलिए मैं कहता हूँ कि सार्वजनिक उपयोग से अंग्रेजी हटाये बिना कोई काम नहीं बन सकता। अंग्रेजी हट जाने पर ही 40 करोड़ को अपनी योग्यता, दिखलाने का मौका मिलेगा। अब सवाल उठता है कि क्या हिन्दुस्तान में ऐसी हालत है कि बिना अंग्रेजी काम चला सकते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कैसे करोगे। हिन्दी में शब्द कहाँ हैं। इसके जवाब में मैं जापान का एक किस्सा बता देता हूँ। यह किस्सा 1945 का है, जब अमरीकी फौजों ने जापान पर कब्जा कर लिया था। उसी जमाने में जापान से बहुत से लोग विज्ञान और दूसरी नयी चीजों की जानकारी के लिए विदेश पढ़ने भेजे गये। जब ये लोग वापस आ गये तो इनके सामने यह सवाल उठा कि किस भाषा में काम चलाया जाए। उन लोगों ने कहा कि हमारे पास जापानी शब्द इतने नहीं है कि हम जिन शब्दों को पढ़कर आये हैं उनके बदले अपने शब्द इस्तेमाल कर सकें। सरकार ने उत्तर दिया कि सब काम जापानी में होगा। अगर ऐसे लफ्ज आये जिनकी जापानी न हो सके तो उन्हें वैसे के वैसे ही इस्तेमाल किया जाए और धीरे-धीरे उनके जापानी पर्याय निकालने की कोशिश भी की जाए। इस तरह से उन्होंने किया और आज आप देखें कि उनका काम काज कितने मजे में चल रहा है और अब तक कोई सवाल नहीं उठा।

पर हमारे यहाँ मामला उलटा है। कहते हैं जब शब्द बन जायेंगे तब देशी भाषाएँ शुरू करेंगे। यह वैसी बात है जैसे बिना पानी में गये तैरना, सीखने की इच्छा। यह कितनी खतरनाक हालत है कि अपनी भाषाएँ प्रतिक्रियावाद की और विदेशी भाषा प्रगति की प्रतीक समझी जाती हैं। कई लोग सिर्फ इसी वजह से खुलकर देशी भाषाओं की हिमायत नहीं कर पाते कि कहीं वह भी प्रगति के दुश्मन न समझ लिये जायें। इन सब बातों का फायदा उन लोगों ने उठाया, जो अंग्रेजी पढ़े-लिखे हैं और देश से अपने एकाधिपत्य को उठने देना नहीं चाहते। जनेऊ और चोटी धारियों का जमाना तो लद ही गया। इन लोगों ने हिन्दी को भी उन्हीं के साथ जोड़कर अपना रास्ता साफ रखना चाहा।

देश के तीस लाख आदमी नहीं चाहते कि अंग्रेजी खतम हो और उनकी ताकत घटे। इसके लिए उन्होंने दुनिया भर के अड़ंगे खड़े किये। हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं से हिन्दी की प्रतिद्वन्द्विता चलवायी। सरकार ने उनकी मदद की। हिन्दी और अंग्रेजी के असली झगड़े को नजरअंदाज कराने के लिए ये झूठे झगड़े दूसरी भाषाओं से चले। सरकारी नीति रही कि अंग्रेजी की साम्राज्यशाही उन्हें खतम नहीं करनी थी, तो उन्होंने किया यह कि हिन्दी को भी उसी साम्राज्यशाही का एक छोटा हिस्सा दिलाने की कोशिश की। अंग्रेजी का कुछ हिस्सा हिन्दी को भी मिल जाये, यही सरकारी नीति रही। अब यह साफ बात है कि हिन्दी साम्राज्यशाही नहीं चल सकती। गैर हिन्दी इलाके इसको कभी स्वीकार नहीं करेंगे। सरकार की इस साजिश ने हिन्दी को बहुत नुकसान पहुँचाया। गैर हिन्दी लोगों को अपनी नौकरियों वगैरह का डर लगा। सरकारी नीति के कारण ही कई बड़े इलाकों के लोग हिन्दी की कट्टर मुखालफत करने लगे। आपको जानकार ताज्जुब होगा कि महात्मा गांधी के बाद मैं पहला आदमी हूँ तो तामिलनाडु में लगातार 25 सभाओं में हिन्दी बोला। लोगों ने मुझे क्यों सुना? तमलिनाडु में हिन्दी का घोर विरोध है। मैं जानता हूँ कि मुझे लोगों ने इसलिए सुना कि मैं हिन्दी और तामिल को बराबरी देना चाहता हूँ। नेहरू साहब चाहते हैं हिन्दी और अंग्रेजी को बराबरी देना। मालूम ऐसा होता है जैसे कि क्लाईव के बेटे, पोते गद्दियों पर बैठे हों। मैं आपसे फिर कहता हूँ कि हिन्दी की हिमायत वही कर सकता है, जो उसकी बराबरी में अंग्रेजी को न लाये, बल्कि हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं को और जो हिन्दी को अन्य भारतीय भाषाओं के साथ राष्ट्र की उन्नति का साधन और अंग्रेजी को गुलामी का साधन समझे।

आज आप किसी बाजार में निकल जाइए। दोनों तरफ सब नामपट्ट मिलेंगे अंग्रेजी में। यहाँ तक कि नाई की दुकान पर भी बोर्ड होगा—फैंसी हेयर ड्रेसर। इससे फायदा क्या? कौन समझता है? वह तो यह कहिए कि नामपट्ट के साथ-साथ शीशे की खिड़कियों में माल भी सजा रहता है जिसको देखकर लोग समझ

जाते हैं कि किस चीज की दुकान है। वर्ना नामपट्ट से अधिकतर आदमियों को कुछ पता ही नहीं लग सकता। लाखों बच्चों के दिमाग पर इसका क्या असर पड़ता होगा? वे तो यही समझते हैं कि हमारी भाषा इस काबिल नहीं कि उसमें नामपट्ट लगाये जायें। आप सबसे मेरी प्रार्थना है कि आप इस पर सोचे और दुकानदारों से कहें कि ये अंग्रेजी नामपट्ट गुलामी का नक्शा हमारे दिमाग में ताजा रखते हैं।

किस-किस बात का जिक्र किया जाए। चारों तरफ गुलामी की निशानियाँ बाकी है। अंग्रेजी अखबारों को ही लीजिये। ये गुलामी के सबसे बड़े प्रतीक हैं। दुनिया के किसी भी देश में आप दैनिक अखबार विदेशी भाषा में नहीं पायेंगे। हाँ मासिक-पत्र या साप्ताहिक पत्र जो विशेष विषयों से सम्बन्ध रखते हैं, कभी विदेशी भाषाओं में भी निकाले जाते हैं। पूरे यूरोप से मैंने सिवाय पैरिस के और कहीं विदेशी भाषा का दैनिक पत्र निकलते नहीं देखा। पेरिस में एक है और वह अमरीकनों ने अपने लोगों के लिए, जो लाखों की तायदाद में वहाँ हैं, निकाला है। हमारे यहाँ तो अखबार ज्यादातर अंग्रेजी में हैं। नतीजा यह है कि आप सब लोगों को यह विश्वास हो गया है कि अंग्रेजी के अखबार ज्यादा अच्छे हैं। हमारे यहाँ अंग्रेजी में छपने वाले अखबारों की करीब आठ लाख प्रतियाँ निकलती हैं। थोड़े से अखबार जो हिन्दी में निकलते हैं, उनकी दशा ही खराब है और हो भी कैसे नहीं, आप लोग खुद भी विज्ञापन देना हो तो अंग्रेजी अखबार ही पसन्द करते हैं। सरकार खुद अधिक विज्ञापन अंग्रेजी अखबारों को ही देती है। ख्याल बन गया है कि अंग्रेजी अखबार अधिक लोग पढ़ते हैं और उनमें सूचनाएं भी अधिक होती है। असल बात यह है कि यदि आप और सरकार इन्हें विज्ञापन देना बन्द कर दें तो ये अखबार दूसरे दिन बन्द हो जाएँ। मैं तो आपसे कहना चाहता हूँ कि सरकार को यह नीति फौरन अपनानी चाहिए, नहीं तो हिन्दी के अखबार उठ ही नहीं सकते और मुल्क के ज्यादातर आदमी दुनिया की जानकारी हासिल नहीं कर सकते। सरकारी विज्ञापन केवल देशी अखबारों को मिलें और दूर मुद्रक भी देशी कर दिये जाँय तो यह मामला अपने आप सुधर जाएगा। आप लोगों से भी मेरी यही प्रार्थना है कि अंग्रेजी अखबार छोड़कर अपनी देशी भाषा के अखबार पढ़ें। तभी उनकी उन्नति हो सकती है।

हमारा कहना है कि सबसे पहले तो अंग्रेजी सब जगह से आज ही समाप्त कर दी जाए। यह पहली बात है। इसके बाद हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं का प्रश्न रह जाता है। इसके लिए हमारा कहना है कि केन्द्र की भाषा हिन्दी रहे और हर सूबे में अपनी-अपनी भाषा चले। सूबे केन्द्र को अपनी भाषा में लिखे और केन्द्र हिन्दी में लिखे। बी.ए. तक की पढ़ाई और छोटी अदालतों का काम क्षेत्रीय भाषाओं में चलाया जाए और एम.ए. की पढ़ाई और हाईकोर्ट का काम हिन्दी में हो। बी.ए. तक अपनी भाषा के साथ हिन्दी भी वैकल्पिक विषय रहे।

बहुत से लोग डरते हैं कि मुल्क टूट जायेगा। मेरी तो समझ में नहीं आता कि मुल्क अंग्रेजी से कैसे जुड़ा हुआ है? इस गलतफहमी का बहुत बड़ा कारण यह भ्रम भी है कि अंग्रेजी विश्वभाषा है। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप इस भ्रम को दूर कीजिये। अंग्रेजी विश्व भाषा नहीं है। अंग्रेजी तो क्या कोई भी भाषा विश्व-भाषा नहीं हैं। जिस प्रकार अंग्रेजी दुनिया में फैली उसी तरह उससे पहले संस्कृत, अरबी, लैटिन आदि भाषाएँ भी फैल चुकी है। आज उनके साम्राज्य नहीं है और मैं कहता हूँ कि अंग्रेजी का भी नहीं रहेगा। क्या आप समझते हैं कि चालीस करोड़ चीनी और बीस करोड़ रूसी कभी भी इस बात को स्वीकार करेंगे कि अंग्रेजी विश्व-भाषा मानी जाए। सब बातों में राष्ट्रीय आत्म सम्मान का प्रश्न आ जाता है। मैं समझता हूँ कि यदि कभी भी कोई भाषा विश्व भाषा बन सकी तो वह किसी देश की भाषा नहीं होगी, बल्कि सभी देशों की भाषा का सम्मिश्रण होगी।

दस साल में भी अंग्रेजी हमारे यहाँ से गई नहीं, घटी भी नहीं। इस तरह से घट भी नहीं सकती। सरकार उससे तरक्की समझती हैं। अगर देश में कुछ ऐसे काम किये होते जिससे किसानों और गरीबों की तकलीफें कम होतीं, चीजों के दाम सस्ते होते, लोगों को रोजगार मिलता तो हम भी कहते कि तरक्की पसन्द सरकार है। मैं यह कह देना चाहता हूँ कि मैं भी यह नहीं समझता कि अंग्रेजी हटा देने से ही मुल्क के गरीबों का पेट भर जाएगा पर मैं फिर दोहरा दूँ कि बिना अंग्रेजी हटाये देश की उन्नति होना असम्भव है और गरीबों का पेट भरना भी।

आज स्कूलों व कालेजों में अंग्रेजी एक जहरी विषय है और उससे राष्ट्र का महान नुकसान हो रहा है। हमारे सत्तर-अस्सी फीसदी बच्चे औसत बुद्धि के होते हैं और अंग्रेजी भाषा का ज्ञान हासिल करने के प्रयत्न में उनका इतना कचूमर निकल जाता है कि भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते।

मैं हिन्दुस्तान की जनता से और खासतौर से उनसे जो इस भाषा नीति को मानते हैं, अपील करता हूँ कि वे सारे देश में सभाएँ करें और जुलूस निकालें और प्रतिज्ञा करें कि—''हम प्रतिज्ञा करते हैं कि अंग्रेजी का सार्वजनिक इस्तेमाल हम खुद तो आज से ही बन्द करते हैं और सरकारी स्तर पर भी हर शांति पूर्ण तरीके से इसे बन्द करायेंगे।'' नामपट्टों पर से अंग्रेजी भाषा व अक्षर मिटाने के लिए सीढ़ी, रंग व कूची समेत अभियान करें। स्कूल, कॉलेजों में माध्यम विषयक नीति पर और अंग्रेजी को केवल ऐच्छिक विषय बनाने के लिए सबल आंदोलन होना चाहिए। जहाँ अंग्रेजी दैनिकों के वर्तमान पाठक अपनी आदतों को, चाहें कितनी ही कम संख्या में क्यों न हो, बदलने को तैयार न हों, वहाँ अंग्रेजी के प्रयोग का विरोध हो और जहाँ जनमत तैयार किया जा सके वहाँ सामूहिक अड़ंगा डाला जाए। तीन या चार महीने का नोटिस देकर अंग्रेजी में खबर भेजने वाले तार दूरमुद्रक मशीनों को तोड़ा जाए। ऐसी दुकानों का बहिष्कार कराएँ जो अपने नामपट्ट से अंग्रेजी हटाने को तैयार नहीं हों।

भाषा और समाज

❑ *शंभुनाथ*

लोहिया ने एक सपना देखा था—अंग्रेजी हटाने का। उन्होंने तब जितनी समझबूझ से यह सपना देखा था, आज मंत्री बन जाने के बाद लोहिया के उत्तराधिकारी उतनी ही चालाकी से बहरे हो गये हैं। बिना किसी सन्देह के कहना चाहिए कि अंग्रेजी शोषण और दासता की भाषा है। करोड़ों लोगों को गूंगा रखनेवाली भाषा है। लोहिया ने मातृभाषाओं पर जोर दिया था तथा अंग्रेजी का विरोध किया था क्योंकि समाजवादी व्यवस्था कभी भी अंग्रेजी को बनाये रखकर नहीं लायी जा सकती। भाषा और समाज का बहुत गहरा संबंध है। अगर हम अपने सामाजिक तंत्र को बदलना चाहते हैं, जनता में लोकतंत्र की जड़ें निरंतर मजबूत करना चाहते हैं, तो यह अंग्रेजी की प्रभुताई को ध्वंस किये बिना नहीं होगा।

यह अजीब विडंबना है कि पब्लिक स्कूलों में, राजकाज की भाषा में और विभिन्न स्तरों पर अंग्रेजी की बाध्यता अभी भी मौजूद है। भाषा के मामले में कांग्रेस और जनता पार्टी के बीच अंग्रेजी की प्रभुताई में कोई फर्क नहीं आया है। नई परिस्थितियों में भाषा-समस्या को हमें थोड़ा भिन्न प्रकार से समझना चाहिए और अपने रणकौशल में विकास करना चाहिए। 1965 के बाद अति तीव्र गति से अंग्रेजी ने अपनी जो स्थिति मजबूत की है, वह है राजनीतिक स्थिति। अंग्रेजी की महत्वाकांक्षाएँ भी परिवर्तित रूपों में बढ़ी है। अंग्रेजी प्रभुओं ने समझ लिया है कि संविधान तथा प्रधानमंत्री के आश्वासन के बल पर अंग्रेजी अधिक दिनों तक टिक नहीं सकती। राष्ट्रीयतावादी आंदोलन के चलते इसे एक दिन उखड़ जाना पड़ेगा क्योंकि अंग्रेजी निश्चित रूप से एक विदेशी भाषा है। अध्ययन के विषय या उच्चतर शिक्षा माध्यम के रूप में एक दिन इसका मूलोच्छेद होकर रहेगा। अतः अंग्रेजी-प्रभुओं ने फैसला किया कि अंग्रेजी को राजनैतिक-सांस्कृतिक स्तरों तक ज्यादा सुनियोजित रूप से फैलाया जाय। फलस्वरूप आज उद्योग-धंधों, आर्थिक साधनों और व्यवस्था, जीवन-पद्धति, पुस्तक-प्रकाशनों, बाजार, कला-साहित्य—सबमें अंग्रेजी ने अपना सांस्कृतिक साम्राज्यवाद विकसित कर लिया है। यह शोषण-दमन के भारतीय और विदेशी साधनों में घुल गई है। नव-मध्यम वर्गीय लोगों के नये-प्रलोभनों से यह संयुक्त हो गई है। शिक्षित हरिजन भी पढ़लिखकर अंग्रेजी कौशलों को अपनाना चाहता है और अपने ही समाज में विशिष्ट दर्जा बनाना चाहता है। अंग्रेजी नौकरशाहों की प्रेमिका बन गई है और अहिन्दी प्रदेश की सरकारों की राजनैतिक रखैल। विगत पंद्रह वर्षों में अंग्रेजी ने हमारी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में जो नई जड़ें जमानी शुरू की है—वे राजनीतिक अधिक हैं। हमारे हिन्दी भाषी राज्यों की भाषा-संबंधी घोषणाएँ यूँ तो ऊपर से देखने पर अंग्रेजी-विरोधी लग सकती हैं। लेकिन हमारे देश में अंग्रेजी अपना राजनैतिकार्थिक आधार प्राप्त करके पूर्वापेक्षा अधिक मजबूत हुई है। यह अधिक बड़ी शोषक बनी है और इस पर टिक कर पूंजीवाद, नौकरशाही और सामंतवाद ने अपना नया विकास किया है।

अंग्रेजी के इस शोषण मूलक नये राजनैतिक विकास की तुलना में हमारे प्रतिरोध का चरित्र वही पुराना है। सम्मेलनों के द्वारा अगर हम सरकार पर दबाव भर देना चाहते हैं, तो यह समझ लेना चाहिए कि अंग्रेजी कभी भी सरकार पर दबाव देने से नहीं हटेगी–अगर सरकार खुद क्रांतिकारी मानसिकता वाली नहीं है। अगर हम जन-जागरण पैदा करना चाहते हैं तो इसे संगठनविहीन रखकर हम समाज में अंग्रेजी-विरोध का एक सतत् सक्रिय माहौल पैदा करने से चूक जायेंगे।

भारत का आदमी अंग्रेजी से रोज किस बुरी तरह कुचला जाता है, यह हम अदालतों, थानों, अस्पतालों, सरकारी दफ्तरों, बाजारों में देख सकते हैं। हर विद्यार्थी को अंग्रेजी के अभाव में शिक्षा और नौकरी के क्षेत्र में तीसरे दर्जे का आदमी समझा जाता है। उत्पादनकर्ता अपनी चीजों के ऊपर अंग्रेजी ट्रेडमार्क या लेबुल छपाकर ज्यादा विश्वसनीयता से ठगते हैं। इतनी पीड़ाओं के बावजूद जनता की कुलबुलाहट दबी रहती है।

दूसरी ओर अंग्रेजी से हिन्दी का सवाल जोड़ा जाता है। हिन्दी को आगे बढ़ाने का जहाँ तक सवाल है, क्या इसे सरकारी बल से जीवित रखने की साजिश नहीं चल रही? हिन्दी को जनता की स्वतःस्फूर्त गतिविधियों से विच्छिन्न करके

सरकारी गतिविधियों में बदलने का काम ज्यादा हो रहा है। सरकार लोगों को यह बार-बार बतलाती है कि उसने हिन्दी के लिए क्या नहीं किया! खर्च के आंकड़े दिखाती है। विश्व हिन्दी पत्रिका तथा विश्व हिन्दी सम्मेलन के विलासितापूर्ण नमूने पेश करती है। लेकिन यह नहीं बतलाना चाहती कि हिन्दी के नाम पर जिन करोड़ों रुपयों के खर्च करने का स्वांग किया जा रहा है, उनका कितना लाभ नौकरशाहों अफसरों और हिन्दी सेवी धूर्त संस्थाओं को मिला और कितना लाभ हिन्दी और अहिन्दी भाषी जनता को मिला। करोड़ों रुपयों की हिन्दी किताबें सरकारी गोदामों में सड़ रही हैं, हिन्दी ग्रन्थ अकादमियों की। क्योंकि ये भाई-भतीजावाद के दृष्टिकोण से छपी हैं तथा अफसरशाही के कारण बेकार पड़ गई हैं। हिन्दी समितियों और हिन्दी के प्रभावशाली पदों पर आज भी कांग्रेसी शासन-व्यवस्था के वे ही चाटुकार हिन्दी भक्त विराजमान हैं और जनता पार्टी के शासन में उसी प्रकार लूट रहे हैं।

एक बड़ा तबका यह चाहने वाला है कि हिन्दी का विकास अंग्रेजी के रास्ते से हो। हिन्दी अंग्रेजी की जगह ले। इस तरह हिन्दी खुद एक शोषण की भाषा बन जाय। इस हिन्दी का शहरवासियों, राजनीतिज्ञों, व्यावसायियों तथा नव-शिक्षितों द्वारा बनाया गया जो चेहरा विकसित हो रहा है, वह करोड़ों गरीबों के लिए अंग्रेजी सरीखा है और पूँजीवादी तौर-तरीकों को ढोने वाला बनता जा रहा है। हम यह नहीं चाहते। हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं, सारे गरीब देशवासियों को अपनी जगह मिले, अपने सारे हक मिलें–सारी लड़ाई सिर्फ इसीलिए है।

भारतीय भाषाओं के लिए किसी भी आंदोलन अथवा कार्य के क्षेत्र में हमें सर्वप्रथम ध्यान देना होगा–अपने सर्ववंचित लोक समाज पर। अगर हिन्दी ने अंग्रेजी बनने की कोशिश की तो पिछड़ा समाज अपनी बोलियों को एक न एक दिन अपनी मुक्ति का माध्यम बनायेगा। फिर खड़ी बोली महज किताबी बनकर शिष्ट और अधिकारी वर्ग की भाषा के रूप में ही रह जायेगी और एक दिन संस्कृत और अंग्रेजी की परिणति भी प्राप्त कर सकती है, हिन्दी का कोई हित रक्षक यह नहीं चाहेगा। अतः हिन्दी के लिए किसी संघर्ष का साफ मतलब है–भारत की मातृभाषाओं के लिए संघर्ष। तमाम बोलियों की तरक्की के लिए संघर्ष। पूंजीवादी–नौकरशाही तथा सामंतवादी शोषण में लोक समाज की आर्थिक मुक्ति और लोकशाही के लिए संघर्ष।

अंग्रेजी के धार्मिक षडयंत्र से तो हम परिचित हैं ही कि किस प्रकार त्रिपुरा, बिहार, असम, नागालैंड, मेघालय इत्यादि में आदिवासियों, वनवासियों, पहाड़ियों तथा बहुतेरी गरीब जातियों की अपनी बोली और संस्कृति विलुप्त होती जा रही है। इनका स्थान ग्रहण कर रही है अंग्रेजी। अंग्रेजी की संस्कृति। इस प्रकार राष्ट्रीय लोक रूप नष्ट हो रहे हैं। बोलियाँ मिट रही हैं। मिशनरी संस्थाएं इन लोगों को आर्थिक सेवा बाँट कर उनके दिमाग को नये अंधकार से जकड़ रही हैं। हमें समझ लेना चाहिए कि सिर्फ संसद में अंग्रेजी की जगह हिन्दी बोलने की माँग करके अथवा राष्ट्रपति के भाषण के समय हल्ला करके हम हिन्दी के लिए नहीं लड़ सकते; अगर अंग्रेजी विरोध का विचार सड़क और आर्थिक क्रांति की प्रक्रिया से नहीं जुड़ता।

अंग्रेजी के सर्वाधिक व्यापक जिस षडयंत्र को समझना होगा वह है इसका राजनैतिक आर्थिक षडयंत्र। इसका शिकार होकर हमारे देश का न केवल जातीय स्वरूप नष्ट हो जायेगा, बल्कि अंग्रेजी भाषा इसे समाज व्यवस्था में निरंतर मजबूत होती जायेगी, हिन्दी विद्यालयों में प्राथमिक स्तर से ही बढ़ी दुरावस्था और गलत शिक्षा पद्धति का भी अंत होना चाहिए। शिक्षा व्यवसाय नहीं है। अतः अगर हम अंग्रेजी के विरोधी हैं, पर पूंजीवादी नीतियों पर चल रहे हैं, तो यह एक नकली विरोध है। अगर हम कोई सम्मेलन सिर्फ अंग्रेजी को हटाने के लिए आयोजित करके चुप रह जाना चाहते हैं, तो यह एक अधूरा सम्मेलन है। अगर हमें अंग्रेजी का सही विरोध करना हो तो उस पूंजीवादी शासन व्यवस्था के खिलाफ क्रांतिकारी संघर्ष शुरू करना होगा, जिस पर अंग्रेजी टिकी हुई है। कोई पूंजीवादी सरकार अंग्रेजी नहीं हटा सकती। अगर ऐसा कोई भ्रम हो, तो अब निकाल देना चाहिए। यह हर्ष की बात है कि इस ओर पुनः सक्रियता बढ़ी है। भाषा-आंदोलन एक व्यापक आर्थिक आंदोलन के साथ पुनः जाग रहा है। समाजवादी नव जवानों को विगत गलतियों और नेतृत्व के पूंजीवादी भटकाव से सीख लेनी होगी। अंग्रेजी हटाने की लड़ाई के लिए संगठन और जनाधार पैदा करना होगा।

जनता की संपूर्ण समाजवादी लड़ाई से जोड़कर जब हम यह संघर्ष असरदार तरीके से चलायेंगे, तभी सफलता मिलेगी। एक सपना तभी पूरा होगा। (सन् 1979)

अंग्रेजी हटाओ आंदोलन का इतिहास

❑ *अध्यात्म त्रिपाठी*

भारतीय आजादी की लड़ाई को तब बल मिला जब महात्मा गांधी ने भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिन्दी को राष्ट्रीय आंदोलन का माध्यम बनाया। गांधीजी के पूर्ववर्ती राजनेता अंग्रेजी माध्यम से ही अपने विचार प्रगट करते थे और उपनिवेशिक स्वराज्य और पूर्ण स्वातंत्र्य की बहस करते थे। गांधीजी ने आजादी की लड़ाई में आम लोगों की शिरकत का एहसास किया और अंग्रेजी राज के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा के सार्वजनिक प्रचलन का भी विरोध किया। 1916 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के समय उन्होंने हिन्दी में भाषण दिया और कहा कि मैं उन लोगों के लिए बोल रहा हूँ जो पंडाल के बाहर खड़े हैं। गांधीजी ने उन लोगों को राष्ट्रद्रोही तक कह दिया जो अपने बच्चों की शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से दिला रहे थे। गांधीजी ने कहा—''यदि मैं तानाशाह होता तो आज ही विदेशी भाषा में शिक्षा का दिया जाना बन्द कर देता। सारे अध्यापकों को स्वदेशी भाषाएँ अपनाने को मजबूर कर देता। जो आनाकानी करते उन्हें बरखास्त कर देता। मैं पाठ्य पुस्तकों को तैयार किये जाने का इंतजार न करता।''

गांधीजी की दूरदर्शिता का परिणाम भी निकला। करोड़ों लोग आजादी की लड़ाई से जुड़ गये। अंततः अंग्रेजी राज खतम हो गया। 15 अगस्त 1947 को ही यदि अंग्रेजों के साथ अंग्रेजी को भी विदा कर दिया गया होता तो भारत में भाषा की समस्या इतनी न उलझी होती। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। राममनोहर लोहिया ने भी इसका एहसास उसी समय किया था और कुछ जगहों पर देशी भाषा के पक्ष में तर्क भी दिये।

भारतीय नौकरशाही जो अंग्रेजी में ही काम करने की अभ्यस्त थी। अपना अस्तित्व अलग रखने का षड्यंत्र उसी समय से करने लगी। संविधान की रचना-प्रक्रिया में खुबी के साथ एक कलम जुड़वाने में वे सफल हो गये कि संविधान लागू होने के 15 साल तक अंग्रेजी सखी भाषा के रूप में बनी रहेगी। इसके पीछे तर्क यह था कि 15 साल की अवधि में अंग्रेजी का प्रचलन धीरे-धीरे कम होता जाएगा और 15 साल बाद अंग्रेजी की जगह भारतीय भाषा ले लेगी। लेकिन व्यवहार उलटा हुआ। उक्त 15 साल में अंग्रेजी ने अपनी जड़ें जमा लीं और अनन्तकाल तक के लिए भारतीय जनमानस पर थोप दी गयी।

संविधान लागू होने के चार साल बाद 1954 में राममनोहर लोहिया ने नौकरशाही के इस षड्यंत्र को भाँप लिया था और इसका संकेत वे यदा-कदा देते रहे। 1956 में सोशलिस्ट पार्टी के जब लोहिया अध्यक्ष बने, और उनको अपने सिद्धांतों से समझौता करने का अवसर नहीं रहा–हालांकि डॉ. लोहिया ने अपने जीवन में अपने मान्य सिद्धान्तों से कभी भी समझौता नहीं किया था—अंग्रेजी के सार्वजनिक प्रयोग के खिलाफ उन्होंने बोलना शुरू कर दिया था।

10 मई 1957 को प्रथम राष्ट्रीय आंदोलन की शताब्दी मनाने की घोषणा काफी पहले की गयी थी। डॉ. लोहिया ने इस अवसर को अपनी लड़ाई का केन्द्र बिन्दु बनाया। उत्तर प्रदेश सोशलिस्ट पार्टी की ओर से 10 मई से सत्याग्रह प्रारम्भ करने का फैसला किया गया। अन्य माँगों के अलावा दो माँग उनमें जोड़ दी गयी कि शताब्दी महोत्सव की वास्तविक उपलब्धि तब होगी जब (1) सार्वजनिक स्थानों से अंग्रेजों के पुतले हटाये जाएं और (2) अंग्रेजी भाषा का सार्वजनिक प्रयोग बंद कर दिया जाए। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. सम्पूर्णानन्द को उन्होंने चुनौती दी। सरकार की ओर से तर्क दिये गये कि मूर्तियों को हटाने में क्या-क्या दिक्कते हैं। लोहिया जी का तर्क था कि 1857 के स्वातंत्र्य आंदोलन के सेनानी भारत के मामूली नागरिक से लेकर सम्राट थे और उनका दमन करने वालों की मूर्तियाँ सार्वजनिक स्थानों पर रहें, यह उनकी छाती पर मूँग दलने का काम करती हैं। इसी तरह अंग्रेजी भाषा सार्वजनिक प्रयोग में चलती रहे, यह हद दर्जे की बेशर्मी है।

10 मई 1957 से उत्तर प्रदेश में सत्याग्रह चालू हुआ। जनता ने स्वयंस्फूर्त अंग्रेज तानाशाओं के पुतले हटाना शुरू किया। वाराणसी में श्री राजनारायण के नेतृत्व में हजारों लोगों ने बेनियाबाग में स्थित रानी विक्टोरिया की मूर्ति हटा दी। इस अपराध में इन लोगों को 19 महीने की सजा मिली। उत्तर प्रदेश के हर जिले में सत्याग्रह हुआ और

दस हजार से ज्यादा लोग गिरफ्तार किये गये। चार महीने के बाद उत्तर प्रदेश सरकार ने फैसला किया कि अंग्रेजों की मूर्तियाँ सार्वजनिक स्थानों से हटा दी जाएँगी लेकिन अंग्रेजी भाषा के बारे में वह मौन रही। हजारों लोग जेल में रहे। लोहिया को व्यक्तिगत सत्याग्रह करना पड़ा था। इसी अवधि में डॉ. लोहिया और उनके साथियों पर जेल में लाठी प्रहार हुआ था और लोहिया का मजिस्ट्रेट के सामने जबरदस्ती अँगूठा लगाया गया था।

उत्तर प्रदेश के बाद बारी-बारी से हर राज्य में सत्याग्रह हुए और राष्ट्रीय एवं स्थानीय मांगों के अतिरिक्त दो माँगें अवश्य रखी जाती रहीं, अंग्रेजी मूर्तियाँ और अंग्रेजी भाषा। जहाँ-जहाँ आंदोलन में शक्ति रही, वहाँ-वहाँ से अंग्रेजों की मूर्तियाँ सार्वजनिक जगहों से हटती रहीं। अंग्रेजों की आखिरी मूर्ति अहमदाबाद के एक पार्क से 1970 में राजनारायण जी के नेतृत्व में हटाई गयी। दिल्ली में लार्ड इरविन, पंचम जार्ज तथा ऐसे ही अनेकों मूर्तियाँ हटाई गयीं। इसमें श्री मनीराम बागड़ी, एम.पी., डॉ. वेद प्रताप वैदिक, फना गोरखपुरी आदि का नाम उल्लेखनीय है।

अंग्रेजों की मूर्तियों को सार्वजनिक स्थानों से हटाने का फैसला भारत सरकार ने भी कर दिया। नौकरशाहों ने इसमें भी काफी अड़ंगे लगाये, लेकिन उन्होंने देखा कि इससे उनके ऊपर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता और उनकी विशिष्टतता कायम रहती है। लोहिया के सामने अंग्रेजी भाषा के सार्वजनिक प्रयोग की समस्या थी। लोहिया ने कहा—

''अंग्रेजी जबान अब हिन्दुस्तान के सार्वजनिक मामलों से खत्म हो जानी चाहिए। इसमें देर करना न केवल भाषा के मसले को उलझा देना और बिगाड़ देना होगा, बल्कि देश के दूसरे मसलों को भी बिगाड़ देना होगा। भाषा से देश के सभी मसलों का सम्बन्ध है। किस जबान में सरकार का काम चलता है, इससे समाजवाद तो छोड़ ही दो, प्रजातंत्र भी छोड़ो, ईमानदारी और बेईमानी का सवाल तक जुड़ा है। यदि सरकारी और सार्वजनिक काम ऐसी भाषा में चलायें जाएँ जिसे देश के करोड़ों आदमी न समझ सकें, तो होगा केवल एक प्रकार का जादू-टोना।...जिस जबान को करोड़ों लोग समझ नहीं पाते, उनके बारे में यही समझते हैं कि यह कोई गुप्त विद्या है, जिसे थोड़े लोग ही जान सकते हैं। ऐसी जबान में जितना चाहे झूठ बोलिये, धोखा कीजिए, सब चलता रहेगा, क्योंकि लोग समझेंगे ही नहीं।''

लोहिया ने अंग्रेजी के खिलाफ जेहाद बोल दिया। उन्होंने महसूस किया कि इस आंदोलन को संगठित रूप दिया जाए। एकलक्षी कार्यक्रम के तहत उन्होंने अखिल भारतीय अंग्रेजी हटाओं सम्मेलन नाम की संस्था का गठन किया। अ.भा. अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन का पहला राष्ट्रीय अधिवेशन नासिक (महाराष्ट्र) में 28, 29 अक्टूबर 1959 को किया गया। इस सम्मेलन का सारा काम ऐसे लोगों को सुपुर्द किया गया जिनका सक्रिय राजनीति से विशेष सम्बन्ध नहीं रहा। मराठी के सुप्रसिद्ध कवि श्री कुसुमाग्रज इस सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे। आचार्य श्रीपाद केळकर और श्रीमती इन्दुमति केळकर इस सम्मेलन के आयोजकों में प्रमुख थे। इस सम्मेलन का सभापतित्व असमिया के सुप्रसिद्ध कथाकार श्री वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने और उद्घाटन मराठी के ख्याति प्राप्त साहित्यकार श्री गजानन त्र्यम्बक माडखोलकर ने किया। इस सम्मेलन को मगनभाई देसाई, हरिजन के सम्पादक और गुजरात विश्वविद्यालय के उपकुलपति; के.ही.पुटप्पा, मैसूर विश्वविद्यालय के उपकुलपति, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, एन.बी.कृष्ण वारियर, मातृभूमि (मलयालम) के सम्पादक, नवकृष्ण चौधरी (उड़ीसा) आदि का समर्थन प्राप्त था। इस सम्मेलन में इंगलिस्तान की कुमारी जैनेट इरविन ने भी भाग लिया और कहा था—''सार्वजनिक कामकाज में एक विदेशी भाषा का इस्तेमाल करना हिन्दुस्तानियों के लिए शर्म की बात है।''

सम्मेलन ने कुल छह प्रस्ताव पास किये। पहले प्रस्ताव में कहा गया कि ''सहभाषा के रूप में अंग्रेजी को अनिश्चित अवधि तक कायम रखने के केन्द्रीय सरकार के निर्णय का अंग्रेजी हटाओ आंदोलन का यह प्रथम अ.भा. सम्मेलन पूर्णतया विरोध करता है। भारतीय संविधान में उद्घोषित विचार के न केवल खिलाफ यह निर्णय है बल्कि हिन्दी और देश की सभी भाषाओं को अपना सुयोग्य स्थान प्राप्त करने के रास्ते में यह एक बड़ा रोड़ा है।.....अंग्रेजी के रहते प्रजातंत्र झूठा है।''

सम्मेलन ने सभी प्रदेशों से आग्रहपूर्वक कहा कि ''अपने राज्यों में अंग्रेजी को हटाकर प्रादेशिक भाषाओं का सभी सार्वजनिक क्षेत्रों में उपयोग किया जाए'' इस मांग पर बल दें।

दूसरे प्रस्ताव के जरिये अंग्रेजी को शिक्षा के माध्यम से

हटाने पर जोर दिया गया। अंग्रेजी के हटाये बिना देश में ज्ञान–जैसे विज्ञान, इतिहास, रसायन, फिजिक्स इत्यादि की वृद्धि नहीं हो सकती और अंग्रेजी के निर्जीव भाषा ज्ञान में ही लोग उलझे रहेंगे। इस प्रस्ताव में यह भी राय दी गयी कि विद्यार्थी संगठन अंग्रेजी के माध्यम अथवा जरूरी पढ़ाई में अड़ंगा डालें।...ऊँची सरकारी नौकरियों जैसे कलक्टर आदि की परीक्षा में अंग्रेजी का माध्यम होने के कारण 90 प्रतिशत जनता के बच्चों को ऊँचा उठने का मौका नहीं मिलता।

तीसरे प्रस्ताव द्वारा दुकानदारों से अपील की गयी कि वे अपने नामपट्ट अंग्रेजी में न रखें। चौथे प्रस्ताव में सरकार की इस नीति की भर्त्सना की गयी कि उसने अपनी अंग्रेजीपरस्त नीति के कारण ही अंग्रेजी के दैनिक अखबारों को बढ़ावा दे रखा है और लोकभाषाओं के दैनिकों को दबा रखा है।

पाँचवें प्रस्ताव में सम्मेलन ने अदालतों से अंग्रेजी हटाने की माँग की और उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय की भाषा अंग्रेजी न हो, इस पर जोर दिया। छठवें प्रस्ताव द्वारा हर स्तर पर अंग्रेजी हटाओ समितियों के गठन का आवाहन किया गया।

नासिक के प्रथम अखिल भारतीय अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन में सर्वश्री वीरेन्द्र भट्टाचार्य (आसाम) वंदेमातरम रामचंद्रराव (आन्ध्र) प्रभुनारायण सिंह ससंद सदस्य (उ.प्र.) गजानन त्र्यंबक माडखोलकर (महाराष्ट्र) और लक्ष्मीकान्त वर्मा (इलाहाबाद) का अध्यक्ष मण्डल और धनिकलाल मण्डल (बिहार) श्रीपाद केळकर (महाराष्ट्र) वीरभद्र राव (आ.प्र.) ओमप्रकाश रावल (म.प्र.) दोरायबाबू (तामिलनाडु), को सचिव मण्डल नियुक्त किया गया। सभी प्रदेशों के कुल 45 व्यक्तियों की कार्यकारिणी नियुक्त की गयी।

देशव्यापी आंदोलन

इसके बाद पूरे देश में हर स्तर पर अंग्रेजी हटाओ समितियों का गठन किया गया। सभाएँ की गयीं और जुलूस निकाले गये। देश के पैमाने पर सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। जगह-जगह अंग्रेजी के नामपट्ट मिटाये गये। एक मई 1960 से सत्याग्रह शुरू हुआ। नयी दिल्ली की लोकसभावाली सड़कों के अंग्रेजी नामपट्ट को पोतने का काम श्री ओमप्रकाश दीपक और रामसहाय ने रात के डेढ़बजे से सुबह चार बजे तक किया। बीस सड़कों पर अंग्रेजी के नामपट्ट पुत गये। दोनों को 6-6 महीने की सजा हुई। हैदराबाद में 31 मई को श्री बदरी विशाल पित्ती के नेतृत्व में लगभग 5000 लोगों का जुलूस अंग्रेजी नामपट्ट मिटाते हुए निकाला गया। कई जत्थे रात-रात भर अंग्रेजी के नामपट्ट मिटाते रहे। उस समय गिरफ्तारी देना उतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना उद्देश्य हासिल करना। केन्द्रीय राज्य गृहमंत्री श्री धनिक लाल मंडल भी हैदराबाद में नामपट्ट से अंग्रेजी मिटाते हुए पकड़े गये थे।

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, नीमच, बीदर (मैसूर), कलकत्ता, उड़ीसा, दिल्ली, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, राजस्थान, बिहार, असम आदि सभी राज्यों में सत्याग्रह हुआ और अंग्रेजी में लिखे नामपट्ट पोते गये। हजारों लोग जेल में गये। उत्तर प्रदेश में फुलेना देवी, नूरजहाँ बेगम लगातार 12 दिन तक सत्याग्रह करती रहीं। देवरिया सोशलिस्ट पार्टी के मंत्री श्री हरिकेवल प्रसाद को 15 महीने की सजा हुई। इटावा में कुसुम भदौरिया के नेतृत्व में सात औरतों ने सत्याग्रह किया। कई जगह सत्याग्रहियों पर लाठीचार्ज हुआ। झांसी में एक-एक साल की, बिजनौर में श्री कुलमणि सिंह को 9 महीने की, देवरिया में 18 महीने तक की सजा हुई।

बेल्लारी के श्री बेल्लारी नागेश सात मई को हैदराबाद में अंग्रेजी नामपट्ट को मिटाते हुए गिरफ्तार किया गया। पुलिस ने नागेश को 7 मई से 15 जून तक हिरासत में रखा। जेल में इनकी तबियत खराब होती गयी। जाड़ा देकर बुखार आने लगा। साँप घर जैसे जेल में इनका कोई इलाज नहीं होता था। नागेश काँपते रहे, बुखार से कराहते रहे और जेल का डॉक्टर टालू मिक्सचर देता रहा। नागेश ने हिम्मत नहीं छोड़ी। पुलिस और जेल की शैतानियत को झेलते रहे।

गुलबर्गा (कर्नाटक) में सभी समाजवादियों की गिरफ्तारी के बाद जनता ने स्वयं अंग्रेजी नामपट्टों को पोतना शुरू कर दिया।

4 जून 1960 को कलकत्ता स्थित 30 फीट ऊँची जर्जा पंचम की मूर्ति पर राम अवधेश चौधरी पुलिस घेरे को तोड़कर एक ही छलांग में चढ़गये। छेनी तथा हथौड़े से कई बार प्रहार किया। हजारों की संख्या में जनता इस साहसपूर्ण कार्य को देखती रही। मूर्ति कई जगह से चिनक गयी।

बनमालीपुर (उड़ीसा) में अंग्रेजी हटाओ दिवस गांधी जयंती के अवसर पर मनाया गया। श्री नारायण साहू और रवि रे के भाषण हुए।

16 नवम्बर '60 को ब्रह्मदेव प्रसाद उच्चतर विद्यालय बेगूसराय के सभागृह में मुँगेर (बिहार) जिला अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन बांका कॉलेज के प्राचार्य तथा दर्शन शास्त्र के विद्वान श्री रामजी शर्मा के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। बिहार के सुप्रसिद्ध कवि श्री लालधुआँ प्रमुख अतिथि रहे। सम्मेलन में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव स्वीकृत कर सरकार से माँग की गयी कि अंग्रेजी को सार्वजनिक, शैक्षणिक एवं शासकीय प्रचलन से हटाया जाए और उसकी जगह लोकभाषाओं को प्रतिष्ठित किया जाए।

30 नवम्बर '60 को राजस्थान विधानसभा का शीतकालीन अधिवेशन शुरू हुआ। इसी दिन सोशलिस्ट सदस्य श्री हीरजी भाई ने एक स्थगनत प्रस्ताव रखा जिसे अध्यक्ष ने अनियमित करार दिया। कुछ सदस्यों ने यह प्रश्न प्रबल रूप से उठाया कि सदन के कार्यक्रम नियम सदन के सामने अभी तक नहीं आये हैं। भले ही वे राजपत्र में प्रकाशित कर दिये हैं। राजपत्र में प्रकाशित विज्ञप्ति अंग्रेजी में है, जिसे वे समझते नहीं। अध्यक्ष ने उन्हें रोकने की कोशिश की किन्तु हीरजी भाई बोलते रहे। अंत में अध्यक्ष ने मार्शल के जरिये उन्हें सदन से बाहर निकलवा दिया।

एक दिसम्बर को मोगजी भाई ने कहा कि काश्तकारी (छठवाँ) संशोधन विधेयक अंग्रेजी में है। वे उसे नहीं समझ पाते। मोगजी भाई ने अंग्रेजी की प्रति फाड़ दी। अपने आसन पर बैठ गये। अध्यक्ष ने इन्हें मार्शल से सदन से बाहर निकलवा दिया।

तीन दिसम्बर को लोकसभा में संचार मंत्री श्री सुब्बाराव ने जिस ढंग से अंग्रेजी प्रेम का परिचय दिया, उससे अनेक सदस्य नाराज हुए। बहस के समय जब श्री भक्तदर्शन हिन्दी में भाषण करने लगे तब श्री सुब्बाराव ने कहा कि आप अंग्रेजी में भाषण करें, मैं हिन्दी नहीं समझता। श्री वृजराज सिंह ने कहा कि सरकार ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा माना है, इसलिए यदि कोई संसद सदस्य हिन्दी में बोलना चाहे तो उस पर अंग्रेजी में भाषण करने के लिए दबाव न डाला जाए। श्री सुब्बाराव ने तर्क दिया कि 1965 तक अंग्रेजी ही राजभाषा है।

आंध्र प्रदेश विधान सभा में श्री वंदेमातम् रामचंद्रराव ने हिन्दी में एक स्थगन प्रस्ताव रखा जिसे अध्यक्ष ने अमान्य कर दिया।

श्री प्रभुनारायण सिंह (सदस्य जिला सोशलिस्ट पार्टी, गाजीपुर, उ.प्र.) ने अदालत में बयान देते हुए कहा कि अंग्रेजी मिटाना हमारा धर्म है।

सतना (म.प्र.) में 20 जून '60 से सत्याग्रह शुरू हुआ। मुरैना में श्री छोटे सिंह गोठ ने डाकखाना और टेलीफोन के अंग्रेजी नामपट्टों को पोत दिया। वे गिरफ्तार कर लिये गये।

16 जनवरी को बिहार के विदुपुर अंचल के समाज संघटन कर्ताओं का अभिनंदन नवयुवक संघ की ओर से किया गया। अभिनंदन पत्र अंग्रेजी में था। जनता के बीच से एक कांग्रेसी ने कहा अंग्रेजी का इतना प्रेम क्यों? जो एक दिन बारह बजे रात में चुपचाप हिन्दुस्तान छोड़कर चली गयी।

जार्ज फर्नांडिस ने बम्बई नगर निगम की बैठक में कहा कि यहाँ केनेडी और मैकमिलन की भाषा नहीं चल सकती। बम्बई भारत में और महाराष्ट्र में है अमरीका या इंगलिस्तान में नहीं। जार्ज ने निगम द्वारा अंग्रेजी प्रयोग का उग्र विरोध किया। इसके फलस्वरूप सदन की कार्यवाही अंग्रेजी में नहीं चलायी जा सकती थी और बैठक स्थगित कर दी गयी।

कलकत्ता में 30 मार्च को अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन मृगांक मोहन सूर के सभापतित्व में हुआ। संसद सदस्य श्री प्रभुनारायण सिंह ने जोरदार शब्दों में अंग्रेजी हटाने की अपील की। राष्ट्रीय एकता के लिए उन्होंने आवश्यक शर्त रखा कि भारतीय भाषाओं को नजदीक लाने की कोशिश की जाए। सभी भारतीय भाषाओं में अनुसंधान कार्य हों। अंग्रेजी हाईकोर्ट से हटे। शिक्षा के माध्यम से हटे और हटे हमारे दैनिक कार्य से।

लोकसभा सदस्य श्री मृगांक मोहन सूर (कांग्रेस) ने कहा कि हिन्दी से अविलम्ब केन्द्रीय शासन के कार्य में स्थान मिलना चाहिए। सभी राज्यों के कार्य उनकी भाषा में होना चाहिए। डॉ. शंकरचंद्र मुखर्जी ने कहा—हमारा शासन कार्य अंग्रेजी के माध्यम से संचालित हो, इससे हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है। एक लिपि अपनाने की बात भी इन्होंने कही।

आंध्र प्रदेश के हैदराबाद जिला परिषद के लिए चार सदस्यों का चुनाव करने के लिए जिला परिषद के सदस्यों की एक विशेष बैठक 30 नवंबर '60 को बुलायी गयी थी। अखिल भारतीय अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन के एक अध्यक्ष श्री वन्देमातरम रामचंद्र राव भी सदस्य थे। परिषद के अध्यक्ष कलक्टर ने जैसे ही अंग्रेजी में भाषण शुरू

किया, वन्देमातरम जी ने उन्हें टोका और परिषद की कार्यवाही राज्य की भाषा में चलाने की अपील की। पहले तो कलक्टर ने आनाकानी की, किन्तु इसरार करने पर हिन्दी में बोलने लगा और सारी कार्यवाही हिन्दी में चली।

इस आंदोलन में अधिक उग्रता उत्तर प्रदेश में आयी। सोशलिस्ट पार्टी के राज्य कार्यालय की तीन घंटे तक तलाशी ली गयी। दस हजार से ऊपर लोग जेल गये। प्रायः सभी अंग्रेजी नामपट्ट पोत दिये।

आंध्र प्रदेश के करीमनगर, नलगोण्डा, सिकंदराबाद, हैदराबाद में अंग्रेजी के अधिकाधिक नामपट्ट पोते गये।

पूरे देश में अंग्रेजी के विरूद्ध आंदोलन चला। 1950 का आंदोलन अधिकांशतः अंग्रेजी के नामपट्ट पोतने तक सीमित रहा। राममनोहर लोहिया ने कई स्थानों पर अपने हाथ से अंग्रेजी के नामपट्ट पोत कर इसका नेतृत्व किया।

द्वितीय सम्मेलन

अखिल भारतीय अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन का द्वितीय सम्मेलन उज्जैन में 7 से 10 जनवरी 1961 तक चला। इसके स्वागताध्यक्ष थे दैनिक भास्कर के सम्पादक श्री शिवप्रताप सिंह। सर्वश्री ओमप्रकाश रावल, राम नारायण परमार और गंगा प्रसाद तिवारी इस सम्मेलन के आयोजकों में प्रमुख थे। मराठी की सुप्रसिद्ध उपन्यासकार कौर समाजशास्त्री मालती बाई बेड़ेकर ने सम्मेलन का उद्घाटन किया। इस सम्मेलन की अध्यक्षता अलग-अलग अवसरों पर अलग-अलग व्यक्तियों ने की। नाम हैं—पूना के प्रसिद्ध वकील श्री वि. गाडगिल, हिन्दी के श्री भगवत शरण उपाध्याय, राममनोहर लोहिया, बंगाल के श्री शंकर मुखर्जी, आंध्र प्रदेश के श्री वंदेमातरम रामचंद्र राव, उड़ीसा के श्री रवि रे, मध्य प्रदेश के श्री छोटेलाल भारद्वाज, श्रीमती यशोदा देवी, श्री नत्थू भाई तथा माधव कॉलेज के डॉ. मूले।

इस सम्मेलन को सर्वश्री राहुल सांकृत्यायन, पुरुषोत्तमदास टंडन, द्वारिका प्रसाद मिश्र, इन्दुलाल याज्ञिक, डॉ. उदयनारायण तिवारी, डॉ. रघुवंश, नन्ददुलारे वाजपेयी, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, धर्मवीर भारती, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, सत्याश्रम वर्धा के स्वामी सत्यभक्त ने अनी शुभकामनाएँ दीं।

सम्मेलन में कुल दस प्रस्ताव पास किये गये। महत्वूपर्ण प्रस्ताव यह है कि ''अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन जनता से प्रार्थना करता है कि अपना वोट चुनावों में उन सदस्यों को न दें जो विधान सभाओं और संसद आदि में अंग्रेजी में बोलते हैं।''

दूसरे प्रस्ताव द्वारा संविधान की धारा 348 का हवाला देते हुए कहा गया कि राज्य सरकारें अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए अपने यहाँ के उच्च न्यायालयों की भाषा अंग्रेजी की जगह हिन्दी या कोई लोक भाषा घोषित करे। तीसरे प्रस्ताव द्वारा जनता से अपील की गयी कि उन दुकानों से सामान न खरीदें जिनके नामपट्ट अंग्रेजी में हों।

चौथे प्रस्ताव द्वारा अंग्रेजी की पढ़ाई लाजिमीन ऐच्छिक करने की माँग की गयी। पांचवें प्रस्ताव द्वारा अपील की गयी कि गैर हिन्दी इलाके के लोग अपनी प्रादेशिक भाषा का व्यवहार करें।

छठवें प्रस्ताव में विद्यार्थीपत्रक की घोषणा की गयी जिसमें मुख्य हैः—

(1) केवल अंग्रेजी के पर्चे में फेल और बाकी सब विषयों में पास विद्यार्थियों को पास किया जाए।

(2) कॉलेज और विश्वविद्यालय पर लगी सभी बंदिशों को खतम किया जाए। जो निचले दर्जे में पास है और अगले दरजे में पढ़ना चाहता है उसकी भरती निर्बन्ध हो।

(3) ऊँची से छोटी, सभी सरकारी नौकरियों के लिए अंग्रेजी का जानना गैर जरूरी है।

(4) शिक्षा के माध्यम से अंग्रेजी खत्म हो।

सातवें प्रस्ताव में यह राय प्रगट की गयी कि अंग्रेजी के द्वारा देश का औद्योगीकरण और नये ज्ञान-विज्ञान का प्रसार नहीं हो सकता। पारिभाषिक शब्द सरकारी समितियों में नहीं बन सकते बल्कि इस्तेमाल के द्वारा आपोआप गढ़ते रहते हैं। सम्मेलन ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि जो लोग अंग्रेजी को फौरन खतम करना चाहते हैं, वे हर किसी शब्द के इस्तेमाल के लिए तैयार रहेंगे, शुद्ध-अशुद्ध के गैर जरूरी झगड़े न करेंगे और आशा करेंगे कि इस्तेमाल के दौर में विदेशी शब्दों में से गैरजरूरी गिर जाएंगे और जरूरी घिसकर देशी बन जाएँगे।

आठवें प्रस्ताव द्वारा चुनावों में उन उम्मीदवारों के समर्थन करने की इजाजत दी गयी जो सम्मेलन के उद्देश्य को स्वीकार करें।

नवें प्रस्ताव में कहा गया कि ''हर स्वतन्त्र देश में पुस्तक और पत्रिकाएं विभिन्न विदेशी भाषाओं में छपती हैं किन्तु दैनिक अखबार अपनी भाषा में। हिन्दुस्तान के सभी

अंग्रेजी दैनिक एक दिन में बन्द हो जाएं अगर देश के तार और दूरमुद्रक अंग्रेजी में काम करने की देशद्रोहिता बंद करें।'' सरकार से अपील की गयी कि अंग्रेजी दैनिकों का प्रकाशन असम्भव बनाये।

दसवें प्रस्ताव में अंग्रेजी को सहभाषा के रूप में प्रचलन का विरोध किया गया।

तृतीय सम्मेलन

अखिल भारतीय अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन का तृतीय सम्मेलन हैदराबाद में 12 से 14 अक्टूबर 1962 तक हुआ। इसके स्वागताध्यक्ष थे वन्देमातरम रामचन्द्र राव जी। सम्मेलन का उद्घाटन हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय प्रोफेसर डॉ. सत्येन बोस ने किया। श्री मगन भाई देसाई सम्पादक 'हरिजन' और गुजरात विश्वविद्यालय के उपकुलपति ने सम्मेलन की अध्यक्षता की। उर्दू के प्रख्यात साहित्यकार और फिल्म निर्देशक ख्वाजा अहमद अब्बास और महाराष्ट्र के शिक्षा शास्त्री धों.वि. देशपाण्डे ने विशेष रूप से सम्मेलन में भाग लिया।

सम्मेलन में एक प्रस्ताव पारित किया गया–''अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन देश की जनता को न्यौता देता है कि वह अंग्रेजी का सार्वजनिक प्रयोग हटाने के लिए कमर कसे। सम्मेलन की निश्चित राय है कि भाषा की प्रतिष्ठा पहले होती है और विकास बाद में।

यह जानते हुए कि भाषा औजार है समझ का और अभिव्यक्ति का, सम्मेलन कहना चाहता है कि ये दोनों काम देश की भाषाओं को करने हैं, किन्तु विशेषज्ञ समझ के लिए और एक ऐच्छिक विषय के रूप में अंग्रेजी को दूसरी विदेशी भाषाओं के साथ रखा जा सकता है। बाकी सभी क्षेत्रों से अंग्रेजी को हटाना है।

सम्मेलन कहना चाहता है कि उसकी नीति संविधान के अनुकूल है और वह चेतावनी देना चाहता है कि संविधान के खिलाफ कोई काम न हो।''

इस सम्मेलन के बाद आंदोलन में फिर तेजी आयी। 1962 के आम चुनावों में इसका कुछ असर पड़ा। 1963 में राममनोहर लोहिया लोकसभा में पहुँचे। लोकसभा के माध्यम से अंग्रेजी के खिलाफ वातावरण का निर्माण किया। 13 मार्च 1963 को लोकसभा के सामने एक विशाल प्रदर्शन हुआ। उस समय लार्ड इरविन का पुतला तोड़ दिया गया। फना गोरखपुरी ने यह साहसपूर्ण काम किया। अंग्रेजी के विरोध में वातावरण बना।

भारतीय नौकरशाह अपने षड्यंत्र में सफल हो गये। इन्होंने बड़ी खूबसूरती से देश को दो हिस्सों में बाँट दिया। तट-देशों में प्रचारित कर दिया कि सावधान हो जाओ हिन्दी आ रही है। हिन्दी साम्राज्यवाद से बचो नहीं तो तुम्हारी परम्पराएँ खतम हो जाएँगी और मध्य देशों में प्रचारित कर दिया कि अगर अंग्रेजी को हटा दोगे तो देश टूट जाएगा। हिन्दी-तमिल, हिन्दी-उर्दु, हिन्दी-बंगला आदि की नकली लड़ाई चलवा दी और एक खतरा दिखा दिया। परिणाम हुआ कि 1965 में राजभाषा विधेयक पास हुआ जिसके जरिये अंग्रेजी अनन्त काल तक के लिए हमारे ऊपर लाद दी गई।

इसका जबरदस्त विरोध हुआ। उत्तर भारत में अंग्रेजी के विरोध में छात्र कमर कस कर मैदान में कूद पड़े और एक महीने के अंदर अंग्रेजी के नामपट्ट शहरों से गायब हो गये।

चतुर्थ सम्मेलन

अखिल भारतीय अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन का चतुर्थ अधिवेशन वाराणसी में 20, 21, 22 दिसमंबर 1968 को हुआ। इसके संयोजक श्रीकृष्णनाथ थे। मंत्री श्री बदरी विशाल पित्ती और अध्यक्ष श्री मगनभाई देसाई थे। वाराणसी सम्मेलन में कार्यक्रम वाला एक लम्बा प्रस्ताव पास किया गया। इसके बाद कई स्थानों पर अंग्रेजी दैनिक अखबारों की होली जलाई गयी। दूर मुद्रक तोड़े गये। सरकारी दफ्तरों के टाइपराइटर नष्ट किये गये। वाराणसी में कुछ नौजवानों ने रेडिओ स्टेशन पर कब्जा करके अंग्रेजी प्रसारण रोकने की कोशिश की। पंजाब और हरियाणा में अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन किये गये। लुधियाना, नकोदा आदि में स्थायी संगठन बना। लुधियाना में पहला सम्मेलन 30 अगस्त 1968 को आचार्य श्रीपाद केलकर के सभापतित्व में हुआ। इसके संयोजक श्री हरिदत्त शास्त्री थे।

दूसरा सम्मेलन लुधियाना में 23 अगस्त 1969 को श्री मधु लिमये के सभापतित्व में हुआ। इसमें प्रमुख वक्ताओं में इन्दुमति केलकर और यशदत्त शर्मा सदस्य लोकसभा थे।

देश के अन्य हिस्सों में भी सम्मेलन, गोष्ठियाँ आदि हुईं। दिल्ली में श्री एस.एम.जोशी के सभापतित्व में एक सम्मेलन हुआ और अध्यात्म त्रिपाठी ने दशहरा के दिन अंग्रेजी का पुतला जलाया।

पंचम सम्मेलन

अखिल भारतीय अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन का पाँचवाँ अधिवेशन अहमदाबाद में 28 फरवरी और 1 मार्च 1970 को अहमदाबाद में हुआ। स्वागताध्यक्ष थे श्री तुलसी बोड़ा मंत्री कृष्णनाथ और अध्यक्ष थे आचार्य श्रीपाद केलकर।

एक प्रस्ताव द्वारा केन्द्रीय तथा राज्य-सेवा आयोगों से माँग की गयी कि तत्काल केन्द्रीय और राज्य सरकार की नौकरियों में भरती के लिए विज्ञापन, लिखित और मौखिक परीक्षा और साक्षात्कार से अंग्रेजी का माध्यम और अनिवार्यता समाप्त करें। अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन और आंदोलन को मानने वाले, विशेषकर विद्यार्थी और युवजन परीक्षा केन्द्रों में जबरदस्ती घुसकर परीक्षा के पर्चे, कापियाँ वगैरह फाड़े और परीक्षा को असम्भव बनाएँ।... हिन्दी भाषी राज्यों की सरकारों से माँग करता है कि लोकभाषाओं के बीच अभिन्नता का वातावरण बनाने के लिए वे पहल करें और गैर हिन्दी भाषी राज्यों से सम्बन्ध एवं पत्र-व्यवहार में उन्हीं राज्यों की भाषाओं का प्रयोग करने की व्यवस्था करें।... अंग्रेजी की अनिवार्य पढ़ाई और शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल से देश के विद्यार्थियों का हर साल प्रत्यक्ष छह सौ करोड़ घण्टा नष्ट होता है। अप्रत्यक्ष रूप से जो हीन भाव पनपता है, अज्ञान बढ़ता है वह प्रत्यक्ष का कम से कम तीन गुना है। अगर यह अज्ञान गुणक तीन माना जाए तो प्रतिवर्ष 18 सौ करोड़ नष्ट हो रहे हैं।

अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन अनिवार्य शिक्षा और माध्यम के रूप में अंग्रेजी के इस्तेमाल को तत्काल खतम करने के आंदोलन को प्रभावी और परिणामकारी बनाने के प्रयत्न पर बल देता है। अंग्रेजी हटाने के साथ-साथ अठारह साल मतदान की उम्र, बेकारों को काम या बेकारी का भत्ता और विश्वविद्यालय प्रशासन में विद्यार्थियों को भागीदारी के आंदोलन को यह सम्मेलन अपना पूर्ण समर्थन प्रदान करता है।''

इसके बाद आंदोलन प्रखर हुआ। अंग्रेजी के दूरमुद्रक कई जगह तोड़े गये। वाराणसी, भोपाल, पूना, दिल्ली और पंजाब में यह आंदोलन तेज चला। अंग्रेजी के टाइपराइटर तोड़े गये।

अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन के प्रतिनिधि श्री धर्मराज सिंह ने देवरिया में अदालत में अंग्रेजी टाइपराइटर तोड़ दिया। उन्हें एक महीने की सजा हुई लेकिन एक हफ्ते में छोड़ दिये गये।

मध्य प्रदेश विधान सभा में विधायक श्री कल्याण जैन ने राज्यपाल के अंग्रेजी पत्र को फाड़ डाला। असम विधान सभा में सर्व श्री सोमेश्वर बोरा, अतुल गोस्वामी, चन्द्रशेखर गोगई ने राज्यपाल से माँग भी की कि वे विधानसभा में अपनी मातृभाषा में बोलें, अंग्रेजी में नहीं।

केरल में युवजनों ने अंग्रेजी के विरोध में प्रदर्शन निकाला, अंग्रेजी नाम पर कालिख पोत डाले। तमिलनाडु में काफी संख्या में अंग्रेजी हटाओ प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर कराये गये।

पुराने हैदराबाद राज्य के लोगों की शिक्षा उर्दू माध्यम से हुई है और तटीय आंध्रवस्तियों की अंग्रेजी माध्यम से। आंध्र प्रदेश बनने के बाद वहाँ अंग्रेजी छा गयी और हैदराबाद के लोग अंग्रेजी न जानने के कारण बेकार और कमतर हो गये। तेलंगाना के लोगों में असंतोष और विद्रोह पनप रहा था। उसी में अंग्रेजी हटाओ आंदोलन भी जुड़ गया।

कर्नाटक में अंग्रेजी के प्राध्यापक डॉ. अनन्त मूर्ति का अंग्रेजी हटाओ के लिए महत्वपूर्ण योगदान रहा है। श्री अनन्तमूर्ति आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में पी.एच.डी. हैं। आक्सफोर्ड का डाक्टर जब अंग्रेजी हटाने की बात करता है तो देशी अंग्रेजी पढ़े नकचढ़े लोगों का मुँह लटक जाता है। इनके उपन्यास पर फिल्म बनी है। स्नेहलता रेड्डी ने इसमें प्रमुख भूमिका निभाई है। इस पर रोक लगा दी गई, क्योंकि इसमें ब्राह्मण पर कड़ी चोट है।

गांधी शताब्दी के अवसर पर पाखंडियों का राजघाट पर जमावड़ा हुआ था। गांधीजी की समाधि पर 100 आदमियों का एक जत्था आया और पाखंड को काटा। उस समय बादशाह खाँ की आँखें चमक गयी थीं। इसके बाद दिल्ली की अंग्रेजी हटाओ सेना के लोगों ने केन्द्रीय लोक सेवा आयोग पर हमला बोल दिया। वहाँ 21 लोग गिरफ्तार हुए। उस दिन लोकसेवा आयोग के लोगों को अहसास हुआ कि हमारा झूठ खुल रहा है।

बम्बई में चल रहे क्रिकेट जैसे सामंती खेल के खिलाफ और अंग्रेजी में आँखों देखा हाल सुनाने के विरोध में नयी दिल्ली में आकाशवाणी भवन पर 24 घंटे का धरना दिया गया।

श्री रमण शाडिल्य था, उर्वसीस में इस आंदोलन को चला रहे हैं। ये वहाँ की बोलियों को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, जबकि सरकार अंग्रेजी लादने का कुचक्र चला रही है। अन्डबान निकोबार, जहाँ रूसियों और अमरीकियों की

निगाह है, अंग्रेजी के खिलाफ जबरदस्त आंदोलन है।

भुवनेश्वर में युवजनों ने विश्वविद्यालय के उपकुलपति को लिखकर दिया कि दीक्षान्त समारोह अंग्रेजी में न होकर उड़िया में हो। अगर दीक्षांत समारोह अंग्रेजी में हुआ तो हम लोग उसे चलने नहीं देंगे। रात के दो बजे सारा अंग्रेजी भाषण उड़िया में अनुदित हुआ। सारी कारवाई उड़िया में चली। यह भी आश्वासन मिला कि उड़ीसा के तीनों विश्वविद्यालयों में उड़िया में ही काम होगा।

अंग्रेजी हटाओ आंदोलन के कारण इन्दौर विश्वविद्यालय से अनिवार्य अंग्रेजी हट गयी।

दिल्ली, इन्दौर और सागर में राष्ट्रपति के अंग्रेजी भाषण का डटकर विरोध हुआ।

नकोदर (पंजाब) में 22 अप्रैल 1973 को लाला जगतनारायणजी के सभापतित्व में पहला सम्मेलन हुआ जिसमें डॉ. वेदप्रताप वैदिक विशेष रूप से उपस्थित रहे। दूसरा सम्मेलन 30 नवंबर 1974 को डॉ. रोशनलाल आहूजा के सभापतित्व में हुआ।

जालंधर समिति का पहला सम्मेलन 25 मई 1973 को श्री रमेशचन्द्र सम्पादक 'पंजाब केसरी' के सभापतित्व में हुआ। इन सभी सम्मेलनों में डॉ. वेदप्रताप वैदिक सम्मिलित हुए।

यह आंदोलन तीन रूपों से विकसित हुआ। पहली बार में अंग्रेजों की मूर्तियाँ सार्वजनिक स्थान से हटाने में सफलता मिली। दूसरी बार अंग्रेजी के नाम पर कालिख पोते गये। तीसरी बार लोकसेवा आयोगों में भारतीय भाषाओं को समावेश मिला। संघ लोक सेवा आयोग के परीक्षा हाल में अंग्रेजी के पर्चे फाड़कर परीक्षा को असंभव बना दिया गया। आशा की जानी चाहिए कि अंग्रेजी के विरुद्ध अंतिम प्रहार के साथ ही पब्लिक स्कूलों से अंग्रेजी विदा हो जाएगी जो समाज को दो हिस्सों में बाँटने का माध्यम बनी हुई है और संघ लोक सेवा आयोग से अंग्रेजी का अनिवार्य पर्चा समाप्त हो जाएगा।

लोकसभा में स्वास्थ्य मंत्री की हैसियत से श्री राजनारायण ने अंग्रेजी में बोलने से इन्कार कर दिया और अंग्रेजी कट्टरपंथियों को लताड़ा। 1979 में बजट सत्र का उद्घाटन करने के लिए राष्ट्रपति जब खड़े हुए तो लोकसभा सदस्य श्री मनीराम बागड़ी ने खड़ा होकर कहा कि वे अपनी मातृभाषा में अपना अभिभाषण दें।

अंग्रेजी के विरोध में लड़ाई अभी भी जारी है।

छठाँ व सातवाँ सम्मेलन

अखिल भारतीय अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन का छठाँ सम्मेलन 25, 26 व 27 मार्च 1979 को नागपुर में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में अखिल भारतीय भाषा सम्मेलन की भी भागीदारी थी। यह दूसरा संगठन वर्ष 1979 में ही श्री श्रीपाद केलकर और श्री दिनकर राव साक्रीकर के प्रयत्नों से अस्तित्व में आया। इस सम्मेलन ने अंग्रेजी टाइपराइटरों को हटाने और पब्लिक स्कूलों के विरुद्ध सत्याग्रह करने का संकल्प लिया। अंग्रेजी का सार्वजनिक कार्यों में प्रयोग करने वालों पर कड़ी कार्रवाई करने की योजना भी इस सम्मेलन के संकल्पों में शामिल की गयी। सम्मेलन के प्रत्येक कार्यकर्ता सैनिक की तरह काम करने को कहा गया।

इस सम्मेलन में राज्यसभा सदस्य अजीत शर्मा की प्रमुख भूमिका रही। दिनेशदास गुप्ता, इन्दुमति केलकर, अशोक सेकसरिया, वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य, केशव राव, अध्यात्म त्रिपाठी, उमेश चौबे, हरीश अड्यालकर,, असित सिन्हा, अनंत अमदाबादकर, अविनाश डोरले, चित्रकार चंदेल, श्रीमती लीला चित्तले आदि ने नेतृत्व सँभाला। सम्मेलन में लगभग 5 से 6 सौ प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

सातवाँ सम्मेलन इटारसी के पास एक गाँव सुपरनी (जिला होशंगाबाद) में हुआ। इसमें लगभग 1500 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। यह सम्मेलन छठें सम्मेलन के दो वर्षों बाद सन् 1981 में सम्पन्न हुआ। वाराणसी जिले की औराई विधान सभा के विधायक श्री गया सिंह को अ0भा0 भाषा सम्मेलन का प्रमुख कार्यभार सौंपा गया। सोमनाथ त्रिपाठी अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन की वाराणसी इकाई के सचिव बनाए गए। सम्मेलन में सन्तोष सिंह की मुख्य भूमिका थी। इस सम्मेलन में किशन पटनायक, लाली मोहन निगम, इन्दुमति केलकर, योगेन्द्र नारायण शर्मा, चंचल मुखर्जी आदि ने रचनात्मक भूमिका निभाई।

भाषा नीति के बारे में अंतर्राष्ट्रीय खोज

❑ जोगा सिंह

मातृ-भाषा खोलती है शिक्षा, ज्ञान और अंग्रेजी सीखने के दरवाजे

I. भूमिका : संघीय प्रशासनिक सेवाओं में अंग्रेजी भाषा को पहले से भी ज्यादा महत्व दिए जाने और भारतीय भाषाओं का दर्जा और भी कम करने के प्रस्ताव ने भाषा के बारे में बहस को फिर और तीव्र कर दिया है। यह निबंध सरकार के इस फैसले के प्रतिक्रम के रूप में लिखा गया था। केन्द्रीय सरकार ने अपना प्रस्ताव तो 15 मार्च 2013 को वापस ले लिया है पर भारत में भारतीय भाषाओं की दशा अति दर्दनीय ही बनी हुई है। इसलिए यह निबंध प्रकाशित किया जा रहा है।

वैसे तो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारतीय भाषाओं को वो स्थान नहीं मिला जो हर कारण से उनको मिलना चाहिए था, पर पिछले कोई तीस वर्षों से भारतीय भाषाओं की दुर्गति की गति और भी तीव्र हो गई है और अंग्रेजी भाषा भारतीय भाषाओं को विस्थापित किए जा रही है, विशेष तौर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में। इसका मूल कारण तो निहित स्वार्थ है पर इस नीति के पक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं, वो कुछ निम्न प्रकार के हैंः–

1. अंग्रेजी ज्ञान-विज्ञान की भाषा है और ज्ञान-विज्ञान में प्रगति के लिए अंग्रेजी में पारंगत होना आवश्यक है;

2. अंग्रेजी भाषा एक अंतर्राष्ट्रीय भाषा है और इसके बगैर अंतर्राष्ट्रीय कार-विहार संभव नहीं है।

उपरोक्त दोनों कथन ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, भाषा और अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के बारे में शत-प्रतिशत अज्ञानता के सबूत हैं। इस लेख का उद्देश्य इस अज्ञानता को बेनकाब करना है।

II. शिक्षा और मातृ भाषा : सबसे पहले विकास के लिए सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र ज्ञान-विज्ञान और भाषा के सम्बन्धों में अंतर्राष्ट्रीय ज्ञान और तजुर्बे पर नजर डालना उचित होगा। निम्न उक्ति संयुक्त राष्ट्र संघ के शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के संगठन (यूनेस्को) की पुस्तक 'शिक्षा में स्थानीय भाषाओं का प्रयोग' से है–

''यह स्वतःसिद्ध है कि बच्चे के लिए शिक्षा का सबसे बढ़िया माध्यम उसकी मातृभाषा है। मनोवैज्ञानिक आधार यह सार्थक चिन्हों की ऐसी प्रणाली है जो प्रकटावे और समझ के लिए उसके दिमाग में स्वयंचालक रूप में काम करती है। सामाजिक आधार पर जिस जनसमूह के सदस्यों से उसका सम्बन्ध होता है, उसके साथ एकात्मक होने का साधन है, शैक्षिक आधार पर वह मातृ-भाषा के माध्यम से एक अनजाने माध्यम की अपेक्षा तेजी से सीखता है।'' (यूनेस्को, 1953ः11)

यूनेस्को का यह मत बड़े विस्तृत अध्ययनों का नतीजा था। इसी तरह यूनेस्को ने 1968 में अपनी पुस्तक में दोहराया ः

शिक्षा के लिए ''मातृभाषा का प्रयोग जितनी दूर तक संभव हो किया जाना चाहिए।'' (पन्ना 691)

और संयुक्त राष्ट्र की 2004 की विकास रिपोर्ट में ये दर्ज है ः ''फिलीपीन में दो भाषाई शिक्षा नीति की दो भाषाओं (टागालोग और अंग्रेजी) में पारंगत विद्यार्थी उन विद्यार्थियों को पीछे छोड़ देते थे जो घर में टागालोग में बात नहीं करते थे।'' (पन्ना 61)

और निम्न पंक्ति तो मुख्यतः अंग्रेजीभाषी देश अमेरिका के बारे में है ः

''अमेरिका में जिन नवायो भाषाई बच्चों को प्राथमिक स्तर पर उनकी प्रथम भाषा (नवायो) और उनकी द्वितीय भाषा (अंग्रेजी) दोनों भाषाओं में पढ़ाया गया, उन बच्चों ने नवायो भाषाई उन बच्चों को पीछे छोड़ दिया जिनको केवल अंग्रेजी में पढ़ाया गया।'' (वही) (इस निबंध में 'द्वितीय भाषा' और 'विदेशी भाषा' समानार्थक हैं।)

भारतीय अंग्रेजी भक्तों से निवेदन है कि ये जानने का कष्ट करें कि अमेरिका, कैनेडा, न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया जैसे मुख्यतः अंग्रेजी भाषी देशों में कितनी बड़ी गिनती में स्कूलों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी नहीं है।

आगे दी जा रही उक्तियाँ इस विषय पर दुनिया भर में भिन्न-भिन्न स्थानों पर हुए अध्ययनों से है।

''इस तरह मोदिआनो (1968, 1973) की मैक्सीको में की गई खोज, सकतनब-कांगस की फिनलैंड में की गई खोज और उन लातीनी अमेरिकी अध्ययनों, जिनका सारांश गुदशिंसकी (1975) में दिया गया है, के नतीजे मुझे एक-सा लगते हैं। इन अध्ययनों में दिखाया गया है कि उन बच्चों का बड़ा अनुपात जो अपनी शिक्षा स्थानीय भाषा में आरंभ करता है, अपनी मातृभाषा में साक्षरता का विकास कर लेता है और विषय और दूसरी भाषा पर उन बच्चों से बेहतर महारत हासिल कर लेता है, जिनको केवल दूसरी भाषा में पढ़ाया जाता है।'' (Tucker, 1977:3)। (यहाँ दूसरी भाषा का अर्थ विदेशी भाषा है)।

निम्न उक्ति फिनलैंड से स्वीडन को प्रवास करने वाले बच्चों

पर हुए अध्ययन से है। इस अध्ययन में यह पाया गया कि जिन फिनिश बच्चों की मातृ-भाषा पर महारत बेहतर थी, उनकी शिक्षा में प्राप्तियां बेहतर थीं, चाहे स्वीडन में शिक्षा स्वीडिश भाषा में दी जाती थी।

''निरीक्षण से यह सामने आया कि फिनिश भाषा में महारत का गणित में प्राप्त अंकों से सीधा सम्बन्ध है। स्वीडिश के मुकाबले फिनिश गणित में प्राप्ति के लिए ज्यादा महत्वपूर्ण लगती है, चाहे गणित स्वीडिश में पढ़ाया जाता है। नतीजे इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं कि गणित की संकल्पात्मक प्रक्रियाओं के लिए मातृभाषा का अमूर्तिकरण स्तर महत्वपूर्ण है। जीव-विज्ञान, रसायन विज्ञान और भौतिक-विज्ञान में भी संकल्पात्मक सोच की जरूरत होती है। इन विषयों में भी अपनी मातृ-भाषा पर अच्छी महारत वाले प्रवासी बच्चे उन बच्चों से कहीं बेहतर सफलता हासिल करते हैं, जिनकी मातृ-भाषा में महारत अच्छी नहीं होती। (Skutnabb-Kangas और Toukomaa, 1976)'' (Paulston, 1977:94 में उद्धृत)

अमेरिका के बारे में एक और कथन देखिएः

''ऐसे ही अमेरिका में धीरे-धीरे यह समझ पैदा हो गई है कि गैर-अंग्रेजी भाषाई नागरिकों को अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में ढालने और उनकी मातृ-भाषा के विकास पर ध्यान न देने से नतीजे अच्छे नहीं निकलते।'' (Tucker, 1977:3)

घाना में हुए एक अध्ययन में पाया गया कि ''...घाना में केवल 5 प्रतिशत बच्चे सेकन्डरी शिक्षा और जायर में केवल 30 प्रतिशत बच्चे पहली चार जमातें पूरी कर पाते हैं। लेखक इसका कारण शिक्षा के माध्यम की भाषा में महारत न कर पाने को बताते हैं।'' (Tucker, 1977:3)

यह धारणा भी गलत है कि अगर विद्यार्थी को अंग्रेजी नहीं आती है तो वह विज्ञान और गणित के विषय नहीं सीख पाएगा। क्योंकि, ''विज्ञान के संकल्प किसी एक भाषा या संस्कृति से बंधे नहीं हैं। रूसी, जर्मन और फ्रांसीसी लोगों को अपनी उच्चतम वैज्ञानिक खोजों पर गर्व है और ये खोजें उन्होंने अंग्रेजी भाषा के बगैर की है। 2003 में गणित और वैज्ञानिक अध्ययनों के रुझानों में शिखर पर रहने वाले पांच देश (सिंगापुर, कोरिया गणतंत्र, हांगकांग, चाईना ताएपेई और जापान) वो थे जहाँ अंग्रेजी प्रथम भाषा नहीं है।'' (Ricardo and Nolasco, 2009:6)

ऐसे ही नार्वे की गलोबल मोनीटरिंग रिपोर्ट (Benson, 2005) में यह बयान किया गया हैः

''योरूबा माध्यम प्राथमिक शिक्षा प्रोजैक्ट (Fofunwa et al, 1975; Akinnaso, 1993; और हवालों के लिए Adegpiya, 2003 देखिए) से पूरी तरह प्रमाणित हो गया कि मातृ-भाषा माध्यम में पूरे छः साल की पढ़ाई और द्वितीय भाषा अंग्रेजी को एक विषय के रूप में पढ़ाना केवल संभव ही नहीं था, बल्कि इससे पूरी पढ़ाई अंग्रेजी माध्यम में कराने से बेहतर नजीजे सामने आए।''

''अभी-अभी के अध्ययन भी यही प्रमाणित करते हैं और मातृ-भाषा आधारित दो भाषाई शिक्षा के साकारात्मक पक्षों को सामने लाने में और भी आगे जाते हैं।'' (Benson, 2005), (मातृ-भाषा आधारित दो भाषाई शिक्षा का अर्थ यह है कि मातृ-भाषा माध्यम में शिक्षा हो और विदेशी/द्वितीय भाषा को एक विषय के रूप में पढ़ाया जाए।)

इस तरह हम देखते हैं कि पूरी दुनिया में बार-बार यह साबित हो चुका है कि शिक्षा में जितनी सफलता मातृ-भाषा माध्यम से प्राप्त होती है, उतनी सफलता विदेशी भाषा माध्यम से नहीं हो सकती। यह कहना अनुचित नहीं है कि शिक्षा की सफलता केवल मातृ-भाषा माध्यम से ही संभव है। निम्न कथन इसके कुछ कारणों को सामने लाता है–

''बच्चा अपनी बात अपनी भाषा में आसानी से कह सकता है, क्योंकि ऐसे में उसे गलतियाँ करने का डर नहीं होता। मातृ-भाषा आधारित शिक्षा में शिक्षार्थी सीखने की प्रक्रिया में सरगर्म हिस्सा लेते हैं, क्योंकि जो उनको बताया जा रहा होता है या जो उनसे पूछा जा रहा होता है, उसे वे समझ रहे होते हैं। संकल्पों के सृजन और यथार्थ के विवरण के लिए और अपने विचारों को प्रकट करने के लिए तथा जो संकल्प उनके दिमाग के हिस्से हैं उनमें नए संकल्प शामिल करने के लिए वे मातृ-भाषा का तुरंत प्रयोग कर सकते हैं। मातृ-भाषा आधारित शिक्षा शिक्षकों का शक्तिकरण भी करती है, विशेषतः जब वे स्थानीय भाषा में द्वितीय भाषा से ज्यादा पारंगत होते हैं, क्योंकि ऐसे में विद्यार्थी अपने आपको बेहतर प्रकट कर सकते हैं और शिक्षक ज्यादा ठीक ढंग से जान सकते हैं कि विद्यार्थी क्या सीख चुके हैं और कौन से क्षेत्र हैं, जहाँ विद्यार्थी को ज्यादा सहायता की आवश्यकता है। मातृ-भाषा आधारित शिक्षा लोगों के सामूहिक ज्ञान को स्कूल प्रणाली के साथ सम्बद्ध करने के लिए आधार तैयार करती है। मातृ-भाषा आधारित शिक्षा में यह भी संभव होता है कि कोई समूह स्थानीय रचनाकारों, सांस्कृतिक समूहों और दूसरे प्रासंगिक लोगों के साथ मिलकर अर्थपूर्ण शिक्षण सामग्री तैयार कर सके। मातृ-भाषा आधारित शिक्षा माता-पिता का भी शक्तिकर्ण करती है, क्योंकि स्कूल की भाषा और समूह की भाषा एक ही होती है।'' (Ricardo and Nolasco 2009)

भाषाविदों और शिक्षाविदों के अनुसार यदि मातृ-भाषा में शिक्षा नहीं होती है तो बच्चा अपने बहुत साल नई भाषा सीखने में ही बर्बाद कर लेता है, क्योंकि ऐसे में ''शिक्षार्थी और शिक्षक का ध्यान भाषा पर ही एकाग्र होगा और विज्ञान, गणित और साक्षरता पर नहीं जाएगा।'' (Ricardo and Nolaso, 2009:11)

ऊपर हमने देखा है कि दुनिया भर की खोज और विशेषज्ञ इस बात का पक्का प्रमाण पेश करते हैं कि शिक्षा की सफलता केवल मातृ-भाषा माध्यम से ही संभव है। पर हमारे भारत में शिक्षा और भाषा नीतियों को चलाने वाले आँखों पर अज्ञानता की पट्टी बाँधे और कानों में अंग्रेजी रूई के बड़े-बड़े गोले फसाए अंग्रेजी-अंग्रेजी चिल्लाए जा रहे हैं और देश की शिक्षा, भाषा और संस्कृति को बर्बादी की पटरी पर सरपट दौड़ाए जा रहे हैं। यह लेख इस अज्ञानता को भेदने और इन रूई के गोलों को निकालने का एक विनम्र प्रयत्न है।

अंतर्राष्ट्रीय खोज और विशेषज्ञों के जो निष्कर्ष नीचे दिए जा रहे हैं, वे इस अज्ञानता को भेदने में और भी सहायक होंगे, ऐसी मुझे उम्मीद है। यह निष्कर्ष यह दर्शाते हैं कि मातृ-भाषा माध्यम केवल शिक्षा में सफलता के लिए ही आवश्यक नहीं है, बल्कि विदेशी भाषा सीखने के लिए भी मातृ-भाषा माध्यम अधिक सहायक है।

III. विदेशी भाषा की पढ़ाई और मातृ-भाषा माध्यम बनाम विदेशी भाषा माध्यम

यूनेस्को की उक्ति से आरम्भ करना ही उचित होगा।

III 1. ''मातृ-भाषा में शिक्षा और विदेशी भाषा की पढ़ाई–तीन अंध विश्वासों का खण्डन : हमारे रास्ते में बड़ी रुकावट भाषा और शिक्षा के बारे में कुछ अंधविश्वास हैं और लोगों की आँखें खोलने के लिए इन अंध-विश्वासों का भंडा फोड़ना आवश्यक है। ऐसा ही एक अंधविश्वास यह है कि विदेशी भाषा सीखने का अच्छा तरीका यह है कि इसका शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयोग हो (असल में और भाषा को एक विषय के रूप में पढ़ना अधिक कारगर होता है)। दूसरा अंधविश्वास यह है कि विदेशी भाषा सीखने के लिए जितना जल्दी शुरू किया जाए उतना अच्छा है (जल्दी शुरू करने से लहजा तो बेहतर हो सकता है पर लाभ की स्थिति में वह होता है जो प्रथम भाषा पर अच्छी महारत हासिल कर चुका हो)। तीसरा अंधविश्वास यह है कि मातृ-भाषा विदेशी भाषा सीखने के रास्ते में रूकावट है (मातृ-भाषा में मजबूत नींव से विदेशी भाषा बेहतर सीखी जाती है)। स्पष्ट है कि ये अंधविश्वास हैं असलियत नहीं, पर फिर भी ये नीति बनाने वालों की इस बात में अगुवाई करते हैं कि प्रभुतात्मक भाषा कैसे सीखी जाए।'' (यूनेस्को, 2008:12)

जिस अध्ययन से उपरोक्त कथन लिया गया है वह सभी महाद्वीपों से लिए गए बारह देशों के अध्ययन पर आधारित है और इन देशों में भारत भी शामिल है।

ऐसा ही एक अध्ययन फिनलैंड से स्वीडन जाने वाले बच्चों पर आधारित है। इस अध्ययन में पाया गया कि ''फिनलैंड में कई साल स्कूल जाने की वजह से जितनी किसी विद्यार्थी को फिनिश ज्यादा आती थी, उतनी ही बेहतर वह स्वीडिश सीखता था। एक ही माता-पिता के बच्चों की भाषाई महारत के निरीक्षण से पता चला कि जो बच्चे 10 साल की औसत उम्र पर फिनलैंड में आए उन्होंने फिनिश का स्तर भी बरकरार रखा, स्वीडिश भाषा में भी स्वीडिश बच्चों के बराबर का स्तर हासिल किया। जो बच्चे 6 साल से कम उम्र में स्वीडन में आए या जो स्वीडन में ही पैदा हुए, उनके नतीजे अच्छे नहीं थे। ऐसे बच्चों का स्वीडिश भाषा में विकास 12 साल की उम्र में रुक जाता है, क्योंकि स्पष्ट है कि उनकी मातृ-भाषा में नींव पक्की नहीं होती।'' (Paulston, 1977:92-93)

स्पष्ट है कि विदेशी भाषा भी मातृ-भाषा के माध्यम में पढ़ने पर विदेशी भाषा में पढ़ने से बेहतर आती है। ऐसा क्यों होता है, यह निम्न कथन से स्पष्ट हो जाएगाः

''बुजकम (Butzkamm) का आग्रह है कि विदेशी भाषा सीखने और सिखाने में मातृ-भाषा के स्रोत के रूप में दिए जाने वाले योगदान को पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता है। बच्चे जैसे-जैसे बड़े होते हैंः

(1) वह यथार्थ को संकल्पित करना सीख चुके होते हैं और भाषा के प्रतीकात्मक कार्य पर उनकी पूरी पकड़ हो चुकी होती है।

(2) वह विचारों का आदान-प्रदान करना सीख चुके होते हैं।

(3) वह अपनी भाषा में बोलना और उसका प्रयोग करना सीख चुके होते हैं।

(4) वह व्याकरण की समझ सहज रूप से प्राप्त कर चुके होते हैं और भाषा के कई सूक्ष्म पक्षों के बारे में चेतन हो चुके होते हैं।

(5) वह पढ़ने और लिखने के हुनर प्राप्त कर चुके होते हैं। मातृ-भाषा इसीलिए विदेशी भाषा सीखने में सबसे बड़ी पूंजी होती है। इससे भाषा ग्रहण करने की सहायक प्रणाली प्राप्त होती है और सबसे बड़ी बात कि इससे शिक्षण संभव होता है।''

''सफल शिक्षार्थी मातृ-भाषा के जरिए प्राप्त भाषाई हुनर और यथार्थ ज्ञान के बड़े भण्डार को आधार बनाते हैं। मुख्यतः उनके यथार्थ को नई भाषा में फिर संकल्पित करने की आवश्यकता नहीं होती। वह प्रथम भाषा ग्रहण कर चुके होते हैं और इसके साथ ही संवाद के हुनर और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर चुके होते हैं। उदाहरणार्थ, विनती, इच्छा या चेतावनी के भाव जो सामान्यतः साधारण वाक्यों के जरिए प्रकट नहीं किए जाते ये भाव साधारण वाक्य में भी छुपे हो सकते हैं और प्रथम भाषा की राह रोशन करने की शक्ति इस तथ्य पर आधारित नहीं होती कि दोनों भाषाओं में व्याकरणिक समानता हो। यह इसलिए है कि सभी भाषाएँ, अधिकार, गिनती, कर्ता, साधन, निषेध, कारण, शर्त, आवश्यकता जैसे अमूर्त भावों को प्रकट करने की विधियों का विकास कर चुकी होती हैं, वे यह सब चाहे कैसे भी पूरा करती हों।

एक भाषा का व्याकरण दूसरी भाषाओं का व्याकरण का दरवाजा खोलने के लिए इसलिए पर्याप्त होता है क्योंकि सभी भाषाओं का संकल्पात्मक आधार एक ही है। गहन अर्थों में हम भाषा एक ही बार सीखते हैं।'' (http://en.wikipedia/wiki/Wolfganag Butzkamm)

अभी तक वर्णित तथ्य भारतीय नीतिवानों की आँखों पर से अंग्रेजी पट्टी और कानों में से अंग्रेजी रूई निकालने के लिए काफी होने चाहिए पर फिर भी एक नजर इस पर भी डाल लेनी चाहिए कि बाकी दुनिया में व्यवहार क्या हो रहा है। असलियत यह है कि जहाँ कहीं भी अंग्रेजी विदेशी भाषा रही है और इसका प्रयोग शिक्षा के माध्यम के रूप में होता रहा है, वहाँ यह या तो खत्म हो चुका है या दिन-ब-दिन कम होता जा रहा है। इसे प्रमाणित करने के लिए कुछ मिसालें ही काफी होनी चाहिए।

युगांडा ने 2007 में तय किया था कि प्राथमिक शिक्षा के पहले तीन साल शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो और अंग्रेजी भाषा एक विषय के रूप में पढ़ाई जाए। इससे उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। 2008 में किए गए निरीक्षण में ही पाया गया कि इससे साक्षरता में सुधार हुआ है।

यह ध्यान देने योग्य है कि युगांडा में 52 भाषा समूह हैं। उपरोक्त परिवर्तन इस विचार पर आधारित है कि यदि विद्यार्थी की मातृ-भाषा में नींव रखी जा चुकी हो तो वह विदेशी भाषा ज्यादा आसानी से सीखता है। नई नीति से पहले युगांडा में स्कूली शिक्षा आरम्भ से ही अंग्रेजी माध्यम में होती थी। (उपरोक्त तथ्यों के लिए देखिए Richard M. Kavuma, guardian.co.uk. Friday, 22 May, 2009)

मलेशिया ने 2009 में तय किया था कि गणित और विज्ञान राष्ट्रीय स्कूलों में भाषा मलेशिया में और स्थानीय स्कूलों में चीनी और तमिल में पढ़ाए जाएँ। (the flacciid mind, Thursday, July 9, 2009, www)

भारत के नीति निर्माताओं की अज्ञानता पर इससे बड़ी क्या टिप्पणी हो सकती है कि मलेशिया तो तमिल भाषियों को तमिल में विज्ञान पढ़ाना ठीक समझता है पर भारत में यह एक अपराध जैसा है। पंजाबी में कहावत है कि अकल के बिना तो कुएँ भी खाली हो जाते हैं। कुओं की बात एक तरफ, पर भारतीय देसी अंग्रेजों के भेजे जरूर खाली हो चुके हैं। खैर, कुछ और मिसालें देना कोई बुरी बात नहीं होगी :

''पिछले कुछ सालों से इग्लैंड और न्यूजीलैंड अपने देशज अल्पसंख्यकों की भाषाओं की ओर ज्यादा ध्यान दे रहे हैं। ...माओरी भाषा और संस्कृति के बारे में न्यूजीलैंड के निकट इतिहास को स. मेअ ने आशावादी दृष्टिकोण से अंकित किया है। ...नए माओरी माध्यम वाले प्राथमिक स्कूलों का मूल्यांकन दर्शाता है कि इन बच्चों का शैक्षिक विकास मुख्य धारा वाले बच्चों के बराबर है, बल्कि इसके साथ उनको द्विभाषी होने का लाभ भी है। हांगकांग में पुंतोघुंआ भाषा का प्रयोग दिन-ब-दिन बढ़रहा है। ...मलेशिया ने भी भाषा मलेशिया को राज भाषा और स्कूलों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम बना दिया है (S. Kaur Gill, pp. 135-152)।'' (Ammon, 2009)

स्पष्ट है कि सभी पूर्व अंग्रेजी संक्रमित राष्ट्र इसे अलविदा कहते जा रहे हैं। वजह यह लगती है कि कोई देश भी भारतीयों की तरह अज्ञानता का मित्र नहीं बना रहना चाहता। पर सोचने वाली बात यह है कि ऐसा क्यों है। इसका असल कारण तो आधुनिक वर्णवाद है जो अंग्रेजी भाषा को हथियार बनाकर हर लाभ को हजम करना चाहता है। पर उन वैचारिक आधारों को मिटाना जरूरी है, जिसका ये अंग्रेजी-मनुवाद सहारा लेता है। ये आधार कुछ अंधविश्वास हैं जिनका अच्छा वर्णन स्टॉकहोम यूनीवर्सिटी की 2005 में जारी रिपोर्ट में मिलता है। (देखें Benson, 2005)

III. **2. भाषा के सम्बन्ध में कुछ और मिथ्या धारणाएं**

III. **2.1. एक राष्ट्र एक भाषा अंधविश्वास :** इसी उपनिवेशी संकल्प ने कि किसी राष्ट्र-राज्य को एक साझी भाषा की जरूरत होती है, विश्व के कई हिस्सों में नीतिकारों को प्रभावित किया है। पर न तो एक निष्पक्ष विदेशी भाषा थोपने से कहीं एकता पैदा हुई है और न ही सोमालिया, बरूंदी, खांडा जैसे मुकाबलतन एक भाषाई देशों में स्थिरता पक्की हो सकी है। वास्तव में बंगलादेश, पाकिस्तान, मियांमार और श्रीलंका जैसे देशों में जातिगत और भाषाई भिन्नताओं को स्वीकार करने में असफलता ही अस्थिरता का बड़ा कारण बना है (Quane, 2003)। (Benson, 2005)

III. 2.2. यह अंधविश्वास कि स्थानीय भाषाएँ आधुनिक संकल्पों का संचार नहीं कर सकतीं : दूसरी भाषाओं के मुकाबले यूरोपीय भाषाओं का जन्मजात सामर्थ्य एक दूसरा उपनिवेशी संकल्प है। पर विश्व की हरेक भाषा अपने वक्ताओं के विचार प्रकट करने में समर्थ है और जरूरत पड़ने पर नई तकनीकी शब्दावली और संरचनाओं का विकास करने में समर्थ है। इस बात का सबूत एक बार लेओपोलज सेंघर ने आईन्स्टाईन के सापेक्षता के सिद्धान्त का सेनेगल की भाषा बोलोफ में अनुवाद करके दिया। असल फर्क यह है कि लिखित और प्रकाशन के जरिये बौद्धिकता और विकास के लिए ऐतिहासिक तौर पर एक भाषा का चुनाव किया गया है। (Alxandu, 2003)~ (Benson, 2005)

जैसा उपरोक्त कथन से स्पष्ट है, हर भाषा में यह सामर्थ्य है कि उसमें किसी भी संकल्प को प्रकट किया जा सकता है। पर इस विषय के बारे में इतनी अज्ञानता का प्रसार है कि विस्तार में जाना आवश्यक है।

वाक्य संरचना के आधार पर यह बिल्कुल नहीं कहा जा सकता कि कोई भाषा ज्यादा समर्थ है और कोई कम। हर भाषा की वाक्य संरचना थोड़े बहुत अंतर के साथ एक जैसी ही है। किन्हीं दो भाषाओं का व्याकरण लेकर चंद पन्ने पढ़ने से ही यह स्पष्ट हो जाता है। जिन भाषाओं का कोई व्याकरण न लिखा गया हो उनकी भी वाक्य संरचना वैसी ही समृद्ध होती है, जैसी लिखित व्याकरण वाली भाषाओं की। मुसीबत खड़ी करने वाली बात शब्दावली है। अक्सर सुना जाता है कि हमारी भाषाओं के पास विज्ञान और तकनीक जैसे विषयों की शिक्षा के लिए शब्द नहीं हैं। पर यह दृष्टिकोण शत प्रतिशत अज्ञानता पर आधारित है।

असल में हर भाषा का शब्द सामर्थ्य समान होता है क्योंकि हर भाषा की संपूर्ण शब्दावली कुछ मूल तत्वों से सृजित होती है और इन मूल तत्वों के प्रसंग से भाषाओं में कोई अंतर नहीं है। मिसाल के लिए निम्न अंग्रेजी शब्दों को देखा जा सकता हैः-

1. Haem. A prefix signfying blood.

2. Haemacyte. A blood cell.

3. Haemagogue. Medicine that promotes the catamenial and haemorrhoidal discharges.

4. Haemal. Pertaining to the blood.

5. Haemalopia. An effusion of the blood into the globe of the eye; bloodshot eye.

6. Haemngiectasis. Dilatation of a blood vessel.

7. Haemangioma. A malformaton of a blood vessels which may occur in any part of the body.

8. Haemarthrosis. The presence of blood in a joint cavity.

9. Haematemesis. The vomiting of blood.

10. Haematin. an iron-containing constituent of haemoglobin.

11. Haematinic. An agent improving the blood-quality.

12. Haematinuria. The presence of haematin in the urine.

13. Haematocele. A swelling filled with blood; haematoma.

14. Haematocolpos. Retention of the menses due to a congenital obstructon of vagina,

15. Haematogenesis. The development of the blood.

16. Haematoid. Having the nature of appearance of blood.

17. Haematology. The science dealing with the formation, composition, functions and diseases of the blood.

18. Haematolysis. Destruction of blood cells and liberation of haemoglobin.

19. Haematoma. The blood tumour; H. Auris, the blood tumour of the external.''

(Rawat, 1985 से सधन्यवाद)

देखने से यह लगेगा कि हिन्दी भाषा में इन शब्दों के समानांतर शब्द नहीं हैं। पर हकीकत यह है कि यह सारे शब्द एक ही धातु 'Haem' (रक्त) के साथ भिन्न-भिन्न उपसर्ग लगाकर बने हैं। नीचे दिए जा रहे इनके हिन्दी समानार्थक स्वयं ही बता देंगे कि चन्द मिनटों में इनके हिन्दी समानांतर प्राप्त हो सकते हैंः

1. रक्त, 2. रक्त-कोशिका, 3. रक्त-प्रेरक, 4. रक्तीय, 5. रक्तीय-नेत्र, 6. रक्तवाहिनी-पासार, 7. रक्त-मस्सा, 8. रक्तजोड़-विकार, 9. रक्त-वामन, 10. लौहरक्तीय, 11. रक्तवर्धक, 12. रक्तमूत्र, 13. रक्त-ग्रन्थि/सूजन, 14. रक्त मासधर्मरोध, 15. रक्त-उत्पादन, 16. रक्तरूप, 17. रक्त-विज्ञान, 18. रक्त-ह्रास, 19. रक्तग्रन्थि।

अतः यह कहना कि हमारी भाषाओं में शब्द प्राप्त नहीं है किसी की भाषाई अज्ञानता का अच्छा प्रमाण हो सकता है।

उपरोक्त अंग्रेजी शब्द ज्ञान-विज्ञान और अंग्रेजी भाषा के सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण तथ्य सामने लाते हैं। इन शब्दों में एक भी शब्द अंग्रेजी भाषा का नहीं है। ये सब लैटीन से सीधे उठाए गए हैं। इसलिए यह समझना भी अतिमूढ़ता है कि यदि आपको अंग्रेजी भाषा आती है तो आपको ज्ञान-विज्ञान की शब्दावली समझ में आ जाएगी, क्योंकि अंग्रेजी भाषा में ज्ञान-विज्ञान की अधिकतर शब्दावली लैटीन, ग्रीक आदि भाषाओं की है न कि अंग्रेजी की।

एक और मिथ्या धारणा जो अंग्रेजी संक्रमण का कारण बनी हुई है, वह यह है कि अंग्रेजी की जानकारी से आपके सामने दुनिया भर के दरवाजे खुल जाते हैं। इसलिए दुनिया में इस मुहाज पर क्या हा रहा है यह जानना भी जरूरी है।

IV. वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय भाषाई रूझान

वर्तमान समय में विश्व में दो भाषाई रूझान स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं, एक तो अंग्रेजी भाषा का कम हो रहा वर्चस्व और दूसरा गैर-अंग्रेजी भाषाओं का हर क्षेत्र में बढ़रहा महत्व।

हम पहले ही देख आए हैं कि जिन गैर-अंग्रेजी भाषी देशों में भी (महान भारत और इसके पुराने भाई और वर्तमान भौगोलिक तथा मानसिक पड़ोसी पाकिस्तान को छोड़कर) जहाँ शिक्षा अंग्रेजी भाषा में दी जाती थी, वहाँ या तो यह खत्म हो रही है या दिन-ब-दिन अंग्रेजी भाषा शिक्षा के माध्यम के रूप में कम होती जा रही है। दूसरे क्षेत्रों में भी ऐसा ही हो रहा है।

सन् 2000 के आस-पास तक इंटरनेट पर 80 प्रतिशत से ज्यादा जानकारी अंग्रेजी भाषा में प्राप्त होती थी। अब यह प्रतिशत 40 से भी कम है और अब इंटरनेट पर सैकड़ों भाषाओं में

जानकारी उपलब्ध है।

भारत की बात भी लें तो माइक्रोसाफ्ट कम्पनी के अनुसार भारत का 95 प्रतिशत व्यापार गैर-अंग्रेजी भाषाओं के माध्यम से होता है और केवल 5 प्रतिशत अंग्रेजी भाषा के माध्यम से।

दुनिया में अंग्रेजी की यह स्थिति बन चुकी है कि आपको केवल अंग्रेजी भाषा आती है और कोई दूसरी भाषा नहीं आती, तो कोई भी कम्पनी आपको सबके बाद नौकरी देगी। निम्न उक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि विश्व की भाषाई दिशा किधर को है :

''आज के कामगारों को अंग्रेजी के अलावा दूसरी भाषाओं में बोल और लिख कर संचार कर सकने के सामर्थ्य की जरूरत है।'' (Stephanie Bell Rose, The Goldman Sachs Foundation, Vishakha Desai, The Asia Society, www से उद्धरित)

''जैसे-जैसे दूसरे देश विदेशी भाषाओं को उत्साहित करने के लिए वित्तीय और नीतिगत कदम उठा रहे हैं, विशेषज्ञों का विचार है कि अमरीकी विद्यार्थी इसमें पीछे रह रहे हैं और विश्वीय मंडी में नुकसान उठा सकते हैं।'' (Asia Society News, 2nd April, 2009, www.)

''अंग्रेजी ने जो इजारेदाराना स्थिति 20वीं सदी के अंत तक हासिल कर ली थी, 21वीं सदी में ऐसी इजारेदाराना स्थिति किसी भी भाषा की नहीं रहेगी। अंग्रेजी और सूचना तकनालोजी का रिश्ता अल्प-समयक हो सकता है। जैसे पहले अंग्रेजी भाषाई सबसे बढ़िया और नई तकनालोजी का लाभ उठाते थे, अब यह सत्य नहीं है।'' (David Graddol, 2000 (1997)

पूरे विश्व में सभी विकसित देशों के लगभग सभी स्कूलों में मातृ-भाषा के अलावा और भाषाओं में शिक्षा देने का प्रयत्न किया जा रहा है और ये दूसरी भाषाएँ केवल अंग्रेजी नहीं हैं।

आस्ट्रेलिया ने 'एशियाई अध्ययन पाठ्यक्रम' प्रोग्राम में तय किया है कि हर स्कूल में एक एशियाई भाषा पढ़ना अनिवार्य होगा (Phillip Coorey, The Sydney Morning Harald, October 29, 2012)

यहाँ तक कि अमेरिका में चीनी भाषा माध्यम में शिक्षा देने वाले स्कूल खुल गए हैं और इनमें 90 प्रतिशत से ज्यादा विद्यार्थी गैर-चीनी भाषी हैं। (है तो यह नीति भी गलत, पर यह दर्शाता है कि दुनिया में चीनी भाषा का उभार कैसे हो रहा है)। अमेरिका में 2007 में चीनी भाषा सीखने वालों की संख्या सन् 2000 के मुकाबले 10 गुणा थी। (USA Today, 20th November, 2007)

अमेरिका में तो माँ-बाप गैर-अंग्रेजी भाषाएँ सीखने में लग रहे हैं, ताकि वो अपने बच्चों की दूसरी भाषाएँ सीखने में मदद कर सकें। (Education Update, 15 March, 2013)

''विश्व अर्थव्यवस्था में चीन के बढ़रहे प्रभाव को स्वीकार करते हुए पनामा सभी स्कूलों में चीनी भाषा का शिक्षण अनिवार्य करने की ओर बढ़रहा है।'' (BBC News (www) 6th December, 2007)

यहाँ तक कि मुख्यतः अंग्रेजी भाषी देशों में भी गैर-अंग्रेजी भाषी लोग अंग्रेजी को त्याग रहे हैं। अमेरिका में सन् 1990 में 3 करोड़ 18 लाख लोगों ने दर्ज कराया था कि वे घर में अंग्रेजी नहीं बोलते। सन् 2000 की जनगणना में यह संख्या 4 करोड़ 70 लाख हो गई थी। यह बढ़ोत्तरी इन भाषाईयों की आबादी की बढ़ोत्तरी दर से कहीं ज्यादा है। इन सालों में सपेनी भाषा दर्ज करराने वालों में 60 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। सन् 1980 से 2011 तक अमेरिका में घर में गैर-अंग्रेजी भाषाएँ बोलने वालों की गिनती 140 प्रतिशत बढ़ी है। यह आबादी की बढ़ोतरी से कहीं ज्यादा है।

पूर्व अंग्रेजी उपनिवेशों में कैसे अंग्रेजी संचार-तंत्र से भी बाहर हो रही है, इसका एक अच्छा प्रमाण अर्जन्टीना के ये आंकड़े हैं : सन् 1983 में अर्जन्टीना के संचार-तंत्र (media) का 49 प्रतिशत देश के बाहर से था जो सन् 1996 में घटकर 22 प्रतिशत ही रह गया।

अतः कोई संदेह नहीं रह जाता कि जिन क्षेत्रों में पहले अंग्रेजी का वर्चस्व था, उन सभी क्षेत्रों में अंग्रेजी दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है।

इस बात पर भी बहुत ध्यान देने की जरूरत है कि अंग्रेजी भाषा के कारण हमारे कितने शैक्षिक, आर्थिक, व्यापारिक और भाषागत नुकसान हो रहे हैं।

V. अंग्रेजी भाषा पर टेक रखने के कुछ और गम्भीर नुकसान

आज विश्व के लगभग सभी देश आवश्यकतावश दूसरे देशों की भाषाएँ सीखने में लगते जा रहे हैं पर हम अंग्रेजी की समाधि से चिपके बैठे हैं। हम अंग्रेजी के अलावा किसी भी विदेशी भाषा को सीखने की ओर ध्यान नहीं दे रहे, जिससे बहुत बड़ा व्यापारिक और आर्थिक नुकसान हो रहा है। अगर हम दूसरे देशों की भाषाएँ नहीं सीखेंगे तो आने वाले थोड़े ही समय में हम अलग-थलग पड़ जाएँगे। आज हमारे लिए अंग्रेजी से ज्यादा महत्वपूर्ण चीनी और स्पेनी भाषाएँ हैं। पर हम भविष्य तो क्या वर्ततमान से भी आँखें मूँदे बैठे हैं। आज दुनिया के लगभग सभी गैर-अंग्रेजी भाषी देश अपने देशों से अंग्रेजी भाषा के प्रभाव को समाप्त करने में लगे हैं। हम अपनी सारी शिक्षा, संस्कृति, संचार अंग्रेजी भाषा के हवाले किए जा रहे हैं। इससे हमें लाभ कितना हो रहा है, यह दर्शाने के लिए भारत का दुनिया के व्यापार में लगातार कम हो रहा हिस्सा जाँच लेना काफी होना चाहिए।

अंग्रेजी भाषा में शिक्षा से हमें कितना फायदा हुआ है यह हमारी उच्च शिक्षा की दशा से ही स्पष्ट हो जाता है। भारत में

पिछले 150 साल से उच्च शिक्षा के स्तर पर विज्ञान की शिक्षा अंग्रेजी भाषा में हो रही है। पर हमारा एक भी विश्वविद्यालय विश्व के पहले 200 विश्वविद्यालयों की गिनती में नहीं आता। जापान, चीन, कोरिया, रूस जैसे देश अपनी सारी शिक्षा अपनी भाषाओं में दे रहे हैं, फलस्वरूप उनके विश्वविद्यालयों का स्तर हमारे विश्वविद्यालयों से कहीं बेहतर है। हमारी शिक्षा के घटिया स्तर का सबसे बड़ा कारण शिक्षा का अंग्रेजी भाषा में होना है।

अंत में एक और तथ्य भारत-स्नेहियों के सामने लाना जरूरी है। आज के युग में किसी भी भाषा का जीवन और विकास इस बात पर निर्भर करता है कि उस भाषा का प्रयोग शिक्षा के माध्यम के रूप में हो रहा है कि नहीं। किसी भी भाषा के समाप्त होने में सबसे बड़ा कारण उस भाषा का शिक्षा में प्रयोग न होना है। ''शिक्षा प्रणाली में स्थानीय भाषाओं की गैरहाजिरी के कारण भी भाषाएँ मिट जाती हैं। भाषाओं को बचाए रखने और परिणामस्वरूप उनकी संस्कृति को सुरक्षित रखने में स्कूलों की केन्द्रीय भूमिका होती है। (Eckert, T et al, 2006)

निम्न उक्ति भाषा के लोप होने की प्रक्रिया को रेखांकित करती है–

''लोग अपनी भाषा बोलने में शर्म महसूस करते हैं और इसकी जगह ऊँचे रूतबे वाली भाषा का प्रयोग करते हैं। परिणामतः उनके बच्चों तक भाषा का संचार नहीं होता। ऐसे, अल्पसंख्यक भाषा को उसके वक्ता बोलना छोड़ देते हैं और सम्बन्धित भाषा के प्रयोग के परिप्रेक्ष्य लगातार घटते चले जाते हैं, जब तक कि नई भाषा इसका पूरी तरह स्थान नहीं ले लेती।'' (McMohan, 1994:285)

अगर गौर से देखा जाए तो सभी भारतीय भाषाओं की स्थिति इन मायनों में लगातार बदतर होती जा रही है।

जब से भारत के स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम का प्रचलन बढ़ा है, उसके बाद की स्थिति का अगर लेखा-जोखा किया जाए तो एक भयावह दृश्य के दर्शन होते हैं। अंग्रेजी-माध्यम के प्रचलन से भाषाई अपंगों की एक पीढ़ी खड़ी हो रही है जो किसी भाषा में पारंगत नहीं है। मातृ-भाषा तो यह पीढ़ी इसलिए अच्छी तरह नहीं सीख पा रही है, क्योंकि इसे अंग्रेजी माध्यम में पढ़ाया जा रहा है। इस पीढ़ी के बच्चों की अंग्रेजी का अच्छा विकास इसलिए नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी बच्चा जो आरम्भ से ही विदेशी भाषा माध्यम से पढ़ता है, उसके भाषागत सामर्थ्य का विकास ही अच्छा नहीं हो पाता। ऐसे में वह कोई भाषा भी अच्छी तरह नहीं सीख पाता।

अंग्रेजी हमारे रास्ते में दूसरी विदेशी भाषाएँ सीखने में भी बड़ी रूकावट बनी हुई है, जो आज के जमाने में व्यापार, आर्थिकता, सम्पर्क और जानकारी के लिए निहायत ही जरूरी है। दुनिया में अंग्रेजी के अलावा दूसरी भाषाएँ सीखने का जो तूफान उमड़ा हुआ है और गैर-अंग्रेजी भाषाएँ आर्थिक रूप से कितनी महत्वपूर्ण बन गई हैं, यह हमारे आधुनिक भारतीय महाराजा लोग देखने में असमर्थ हैं क्योंकि उनकी आँखों पर अंग्रेजी भाषा की पट्टियाँ बंधी हैं और कानों में अंग्रेजी सिक्के डले हुए हैं। परिणामतः, भारतीय शिक्षा, प्रशासन, ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति की बर्बादी हो रही है। कोई हैरानी की बात नहीं है कि इन सभी आधारों पर भारत दुनिया के बहुत पिछड़े देशों में शामिल है। भारतीय आर्थिक शक्ति और प्रगति का अंदाजा तो विश्व व्यापार में भारत के हिस्से के आंकड़ों से स्पष्ट हो जाना चाहिए जो 1950 में 1.78 प्रतिशत था और आज 1.50 प्रतिशत है। यह प्रतिशत ही इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि भारतीय नीतिकारों की अंग्रेजी की सवारी 'कानी घोड़ी अंधा सवार' वाली कहावत का जीता-जागता सबूत है।

सांस्कृतिक तबाही की बात ही न करें तो अच्छा होगा। एक ऐसी फार्मी पीढ़ी तैयार हो रही है जो न अपनी भाषा, न इतिहास, न साहित्य, न धर्म, न ज्ञान-विज्ञान और न अपने लोगों से कोई गहन सम्बन्ध बना सकती है और न ही कलात्मक सृजन की किसी गहन अनुभूति से आत्मीयता बना सकती है। गुरु नानक ने फारसी भाषा की भेड़-चाल में फँसे लोगों को मलेछ भाषा गाहने वाले कहा था। अब जब भारतीय उच्च वर्ग ने बाबा नानक के संदेश को इतना गहरा दफना दिया है तो बेचारे गांधी महात्मा की कौन सुनेगा। वो तो सिर्फ धोती पहनता था, भारतीय संस्कृति को बॉय-बॉय कह कर, टाई-वाई लगाता तो बात और थी।

विनती : यह दस्तावेज वैज्ञानिक भाषा नीति पर मेरी ओर से तैयार की जा रही पुस्तक से एक अंश लेकर तैयार किया गया है। पुस्तक में थोड़ा समय लग रहा था, पर विषय इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि मैंने समझा कि कुछ अंश लेकर यह दस्तावेज जल्दी भारतीय नागरिकों के सामने लाना चाहिए। इसीलिए यह दस्तावेज हिन्दी में लिखा गया है ताकि ज्यादा से ज्यादा भारतीय इसे पढ़पाएँ और अपनी-अपनी भाषा में अनुवाद करके यह बातें ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुँचा पाएँ। इसलिए सबसे अनुरोध है कि इसका भिन्न भाषाओं में अनुवाद करें और ज्यादा से ज्यादा लोगों को पढ़ाएँ।

इस दस्तावेज में बहुत विद्वानों की बहुत सारी खोजों को उद्धृत किया गया है। उन सब विद्वानों का मैं हार्दिक आभारी हूँ। यह उनकी मेहनत और प्रतिबद्धता का नतीजा ही है कि मातृ-भाषाओं को इतना बड़ा वैचारिक आधार मिल पा रहा है।

❑

भारतीय भाषाएँ अंग्रेजी की चेरी

❑ *रामकीर्ति शुक्ल*

औपनिवेशिक गुलामी से तो हमने छुट्टी पाली लेकिन मानसिक गुलामी का शिकंजा लगातार मजबूत होता जा रहा है। पहले की अपेक्षा आज अंग्रेजी भाषा कहीं अधिक पढ़ी-लिखी, सुनी और देखी जा रही है। और तो और, अब तो यह कहने वालों की एक बड़ी संख्या हमारे देश में मौजूद हो गई है जो अंग्रेजी को भारतीय भाषा मानने पर जोर दे रही है, इस भाषा के भारतीयकरण पर जोर दे रही है और भारतीय भाषाओं की पैरवी करने वालों को दकियानूस, पिछड़ा, आधुनिकता विरोधी और प्रगति विरोधी कहकर उनकी आलोचना कर रही है। इस बात को हवा देने में पूँजी-पोषित अंग्रेजी मीडिया के साथ वे लोग भी हैं, जिन्हें 'ब्राउन' साहब कहा जाता है। मैकाले ने 1835 में भारत में नई शिक्षा नीति लागू करते हुए यह कहा था कि राजनीतिक साम्राज्यवाद को तो कभी न कभी खत्म होना ही है, लेकिन हम भारत में एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना कर रहे हैं जो कभी भी समाप्त नहीं होगा। बल्कि दिनोदिन मजबूत होता जायेगा। मैकाले के अनुसार इस सांस्कृतिक साम्राज्य की सर्वप्रमुख कारक होगी अंग्रेजी भाषा। आज हम मैकाले की भविष्यवाणी को साकार होते देख रहे हैं। गाँधी को इस बात का अहसास था और इसीलिए उनके अभियान का प्रमुख अंग था, हिन्दी भाषा को प्रोत्साहित करना। इसका असर भी हुआ और सारे देश के लिए हिन्दी प्रचार समितियों का गठन हुआ और उन्हें सक्रिय किया गया। इन समितियों से अनेक गैर हिन्दी भाषी विद्वान, लेखक और राजनेता जुड़े और ऐसा लगा कि हिन्दी शीघ्र ही देश की सम्पर्क भाषा के रूप में उभरकर सामने आ जायेगी। लेकिन तभी राजनीति में क्षेत्रवाद का उदय हुआ और भारतीय राजनीति का स्वरूप राष्ट्रीय के बजाय स्थानीय बनने लगा। हिन्दी के हितैषी हिन्दी भाषी अथवा गैर-हिन्दी भाषी विद्वानों ने स्थानीय भाषा के स्थानापन्न के रूप में हिन्दी को कभी नहीं देखा लेकिन नई राजनीति ने 'हिन्दी उपनिवेशवाद' अथवा 'हिन्दी साम्राज्यवाद' का नारा देकर हिन्दी का विरोध करना शुरू कर दिया। राष्ट्रीय राजनीति के कर्णधारों के लिये यह एक चुनौती बन गयी और उन्होंने हिन्दी के साथ अंग्रेजी को बनाये रखने का फैसला किया। अंग्रेजी की तुलना में हिन्दी दोयम दर्जे की भाषा बन गयी। आज स्थिति यह है कि आधिकारिक स्तर पर हिन्दी महज अंग्रेजी अनुवाद की भाषा बन कर रह गयी है और संभवतः यही नियति इसकी बनी रहेगी।

यह स्थिति केवल हिन्दी की ही नहीं है। सारी भारतीय भाषाएँ अंग्रेजी की चेरी बनी हुई है। उदारीकरण के आज के दौर में शिक्षा कम लागत पर अधिक लाभ का सबसे सुरक्षित व्यापार बन गई है। निजी क्षेत्र प्रायमरी से लेकर उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अपना दबदबा बनाता जा रहा है। इसको किसी विज्ञापन अथवा प्रचार की जरूरत है ही नहीं; अलावा इसके कि यहाँ सब कुछ अंग्रेजी भाषा की देख-रेख में किया जाता है। हम बनारस का ही उदाहरण लें। सरकारी प्रायमरी स्कूल में पढ़ने वाले छात्र-छात्राओं की संख्या लगातार गिरती जा रही है। हर गली-मुहल्ले में 'अंग्रेजी' स्कूलों का जाल बिछ चुका है। शिक्षा माफिया अपना पैर पसारते जा रहे हैं। इन तथाकथित अंग्रेजी स्कूलों में किसी न किसी बहाने अभिभावकों से पैसा उगाहने का धंधा खुलेआम किया जाता है। निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त तमाम किताबें और कापियाँ विद्यार्थियों को अलग खरीदनी पड़ती है। इनके अपने प्रकाशक और पुस्तक विक्रेता होते हैं जो बस्ते का बोझ बढ़ाकर अपने व्यापार की तरक्की करते हैं। युनिफार्म के नाम पर छात्रों के काफी पैसे बाजार की जेब में जाते हैं। फीस पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं होता। इन स्कूलों में सबसे निरीह प्राणी होता है, हिन्दी का अध्यापक अथवा अध्यापिका। यहाँ पढ़ाई जाने वाली भाषाएँ कई हो

सकती हैं, लेकिन बोली जाने वाली भाषा सिर्फ एक है यानी अंग्रेजी। यह बाजार का कमाल है।

अब नौकरी का बाजार। नौकरी चाहे जिस श्रेणी की हो, अब आप अगर फर्राटेदार अंग्रेजी में माहिर हैं तो आपकी सफलता की सबसे अधिक गारण्टी होती है। नौकर अगर सरकारी है तब तो खैर केवल इसी से काम नहीं चलने वाला। वहाँ कुछ 'और' होना चाहिए। हाँ अगर आपकी अंग्रेजी लंगड़ी है तब इस 'और' में और तमाम चीजें जुड़ जायेंगी, जिन्हें यहाँ बताने की जरूरत नहीं, आप समझदार हैं।

एक और बात हुई है इस बीच। पचास साल पहले जब हिन्दी आंदोलन हुआ था, तब अंग्रेजी का प्रसार आज की तुलना में कम था। कम से कम वह दिखाई कम पड़ती थी और सुनाई तो उससे भी कम। आंदोलन की धमक लेकिन स्थायी नहीं रही। आंदोलन के समय अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों की संख्या कम थी। समय बीतने के साथ इसकी धमक भी कम हुई और पिछली सदी के नब्बे के दशक में जब भूमण्डलीकरण का दौर शुरू हुआ तो अंग्रेजी माध्यम स्कूलों की संख्या में एकाएक उछाल आ गया और भाषिक परिदृश्य में बदलाव भी। अंग्रेजी की प्रतिष्ठा बढ़ी, निजी क्षेत्र के विस्तार के साथ ही अंग्रेजी जानने, सीखने की ललक बढ़ी। अंग्रेजी सिखाने की दुकानों की बाढ़आयी और बचे-खुचे भाषिक स्वाभिमान का स्खलन भी शुरू हो गया। अब हम 'डिजिटल इण्डिया' में प्रवेश कर चुके हैं जहाँ हिन्दी के लिए लगभग कोई स्थान ही नहीं रहेगा।

मित्रों, बात चाहे हिन्दी की हो अथवा अन्य भारतीय भाषाओं की, संकट सबके ऊपर मंडरा रहा है। शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में बाजार के धमाकेदार प्रवेश के बाद भाषा संरक्षण का अभियान कहीं अधिक जटिल हो गया है। लड़ाई के मोर्चे बढ़गये हैं। अब केवल भाषा को लेकर ही लड़ने से काम नहीं चलने वाला, क्योंकि भाषा केवल भाषा ही नहीं होती, वह हमारी, हमारे समाज की पहचान, उसके दुख-दर्द से भी जुड़ी होती है। इसलिए आवश्यक है कि हम एक व्यापक लड़ाई के लिए अपने को तैयार करें, उसकी रणनीति बनायें। पचास साल पहले समग्र भविष्य के लिए लड़ रहे थे, भाषा उस भविष्य का एक अंग भर थी। उस आंदोलन में कवि, लेखक, पत्रकार, राजनेता और सामान्य नागरिक भी शामिल थे। यह उचित ही है कि हम उस युवा ऊर्जा को अपनी विरासत के रूप में अपनी स्मृतियों में बसाये हुए हैं और उसे आगे बढ़ाने के उपक्रम में लगे हुए हैं। जैसा कि मैंने संकेत किया है, लड़ाई कई मोर्चों पर करनी है। शुरूआत भाषा से करने जा रहे हैं, इससे सभी भाषा प्रेमी जुड़ेंगे ही, यह विश्वास है।

हिन्दी : विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा

आज हिन्दी विश्व में सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा बन चुकी है। आँकड़ों के अनुसार वर्ष 2005 में विश्व के 160 देशों में हिन्दी बोलने वालों की अनुमानित संख्या 110 करोड़ के लगभग थी। इसी वर्ष चीन के मंदारिन भाषा बोलने वालों की संख्या हिन्दी बोलने वालों से थोड़ी ज्यादा थी। जबकि वर्तमान में विश्व के 206 देशों में 130 करोड़ लोग हिन्दी और 120 करोड़ लोग मंदारिन बोल रहे हैं। इस प्रकार अब हिन्दी विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा का दर्जा प्राप्त कर चुकी है।

विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाएँ

भाषा	संख्या (करोड़ में)
हिन्दी	130
मंदारिन	120
अंग्रेजी	90
स्पेनिश	51.8
अरबी	42.2
मलय/इंडोनेशियन	24.7
फ्रेंच	23.3
बांग्ला	22.4
पुर्तगीज	22.1
रूसी	20.1
जर्मन	14.1

मलयालम मनोरमा ईयर बुक 2018 से साभार

भारतीय भाषाओं के विज्ञानका प्रतिपक्ष

❑ *विभाष श्रीवास्तव*

सोशल मीडिया के एक मंच पर तमिल भाषा को लेकर हिंदी भाषी ने आक्रामक प्रश्न पूछा, 'यदि उनकी भाषा इतनी महान है, तो तमिल भाषी क्यों भयभीत रहते हैं कि तमिल विलुप्त हो जायेगी यदि उनपर हिंदी थोपी गयी तो?' इस लेखक के जवाब में लिखा है कि तमिल कैसे विलुप्त हो सकती है जबकि तमिल इस देश की सबसे पुरानी भाषा है और हिंदी भी द्रविड़ परिवार की ही भाषा है। यह तो अंग्रेज थे जिन्होंने भारतीय भाषाओं को भारोपीय और द्रविड़ भाषा वर्गों में बाँटा। तमिल यहाँ हमेशा के लिए रहेगी। जवाब में प्रश्नकर्ता ने कहा कि लेखक प्रश्न को ख़ारिज कर तमिल को अपनी बोलचाल की भाषा बनाए। उन्होंने कहा कि या तो लेखक का दिमाग़ खराब हो गया है या वह हाल ही में डीएमके की कक्षाओं में शामिल हुआ है।

एक अन्य हिंदी भाषी की टिप्पणी है, 'यदि आप की चमड़ी भूरे रंग का कोई भी शेड लिए हुए है चाहे वह हल्का हो या गहरा, और आप (भले ही आप गोरे हों) गोरे नहीं दिखते, आप में द्रविड़ खून है। सिर्फ यही नहीं, शायद आप में निग्रो, मुण्डा, आदिवासी, ट्राइबल्स, तिब्बत-बर्मन, आस्ट्रो-एशियाटिक और कई अन्य नस्लों की जीन है। यहाँ तक कि काश्मीरी, पश्तो और बलूचियों में भी पचास प्रतिशत दक्षिण एशियाई जीन है। जहाँ तक भाषा की बात है तो हिंदी को द्रविड़ मूल का ठहराना मूर्खता है।'

एक सांसद ने भी हाल में बयान दिया कि 'यदि हम नस्लभेदी हैं तो हमारे पास पूरा दक्षिण है तमिल, केरल, कर्नाटक, आन्ध्र...... हम उनके साथ कैसे रह लेते हैं! हमारे चारों तरफ काले लोग हैं' ये टिप्पणियाँ देश में भाषाओं के मुद्दे पर विभाजन की भयावह तस्वीर पेश करती हैं।

डॉ.राजमल वोरा ने अपनी पुस्तक 'भारत की भाषाएँ के प्रारम्भ में कुछ सवालों को उठाया है, जिसमें प्रमुख प्रश्न हैं : 'हमारे देश की भाषाओं का ऐतिहासिक क्रम क्या है, हमारे देश की भाषाओं का तुलनात्मक स्वरूप क्या है, भाषाओं को जोड़ने वाले सूत्र कौन-से हैं, भाषाओं के आधार पर अलगाव की प्रवृत्ति को क्यों बल मिला, विदेशी भाषाविदों ने हमारी भाषाओं का अध्ययन कर हमें अलगाया क्या, भाषा के कारण देश की राजनीतिक समस्याएँ किस रूप में प्रभावित हैं,' ये सारे प्रश्न गम्भीर हैं।

इस लेखक ने अपने बंगलुरुप्रवास के दौरान पाया कि वहाँ के दो प्रमुख मंदिर, कद्री मंजुनाथ और मंगलादेवी, गोरखनाथ द्वारा स्थापित किए गए हैं, यह कौतुक का विषय है कि सुदूर उत्तर से बंगलुरु तक जाते हुए रास्ते में गोरखनाथ किस भाषा में बात किए होंगे तब अंग्रेजी भी नहीं थी, तमाम विद्वानों ने लिखा है भारत में संस्कृत कभी आम बोलचाल की भाषा थी ही नहीं, इस प्रकार काशी-प्रयाग आदि तीर्थों पर लोगों का जुटना भारत में अंग्रेजी आने के बाद नहीं शुरू हुआ। इन प्रश्नों का उत्तर देश में प्रचलित भाषा विज्ञान नहीं देता।

यह लेखक लगभग चालीस साल पहले काशी विश्वविद्यालय में तमिल सीखने के उद्देश्य से डिप्लोमा कार्यक्रम के अंतर्गत दाखिला लिया। पहले दिन तमिल प्रोफेसर डॉक्टर एन. अरुणभारती ने कहा कि तमिल, हिंदी और वस्तुतः सभी भारतीय भाषाओं की वाक्य रचना एक स्लॉट यानी खाँचा व्यवस्था का अनुपालन करती हैं। किसी एक भाषा के वाक्य के खाँचों में रचे शब्दों को दूसरी भाषा के शब्दों से बदलने पर दूसरी भाषा का वाक्य तैयार हो जाएगा।

वर्ष 2017 अंग्रेजी हटाओं आंदोलन का पचासवाँ वर्ष है। इस आंदोलन की प्रतिक्रिया में दक्षिण में हिंदी विरोधी आंदोलन चला था। तब रुड़की विश्वविद्यालय में तैनात भाषाविद् काशीराम शर्मा ने भाषाई अलगाव से व्यथित हो एक पुस्तक लिखी 'द्रविड़ परिवार की भाषा हिंदी' स्पष्ट करने के लिए कि हिंदी द्रविड़ भाषा परिवार की ही एक भाषा है। कोई प्रकाशक उस पुस्तक को छापना नहीं चाहता था। शर्मा जी ने तब, 1968 में, वह पुस्तक स्वयं प्रकाशित करा मुफ्त में वितरित किया, बाद में 2013 में नेशनल बुक ट्रस्ट से उनकी

एक और किताब 'हिंदी तोल्काप्पिरयम' प्रकाशित हुई जिसमें हिंदी और तमिल के बीच साम्य पर उन्होंने विस्तार से लिखा।

भारतीय भाषाओं के बीच पड़े अलगाव के बीज पर प्रकाश डालते हुए काशीराम शर्मा ने विलियम् जोन्स का उल्लेख किया है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के भारत में पैर जमाने के बाद एकाएक कई ब्रिटिश विद्वानों ने भारतीय भाषाओं में रुचि लेकर शुरू किया। जिनमें सर विलियम जोन्स, न्यायाधीश का नाम पहले लोगों में गिना जाता है, दिनांक 2 फरवरी 1786 को एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के तीसरे सालाना भाषण के दौरान उन्होंने उद्घाटन किया कि संस्कृत, ग्रीक लैटिन और पुरानी परशियन भाषाओं का जन्म स्रोत एक है। सम्भवतः यह वह बिन्दु है जहाँ से भारोपीय भाषा परिवार की अवधारणा ने जन्म लिया। बाद में सन् 1856 में एक पादरी रॉबर्ट काल्डवेल ने 'ए कम्पेयरेटिव ग्रामर ऑफ दी द्रविड़ियन ऑर साउथ इंडियन फैमिली ऑफ लैंगुएजेज' शीर्षक से एक किताब लिखी। इस किताब में अवधारणा रखी गई कि द्रविड़ भाषाएँ अलग मूल की हैं। इस प्रकार भारत में भाषाओं का दो वर्ग तैयार किया गया भारोपीय और द्रविड़, स्पष्टतः बाँटो और राज करो की नीति के तहत।

उल्लेखनीय है कि जोन्स और काल्डवेल ने पहले भारतीय भाषाओं के बीच आर्य और द्रविड़ भाषा वर्ग जैसा कोई विभाजन नहीं मिलता, काल्डवेल से लगभग तीन सौ साल पहले सोलहवीं शताब्दी के मध्य मार्कण्डेय ने देश में प्रचलित प्राकृत भाषाओं का 'प्राकृत सर्वस्वम्' नाम से एक भाषा सर्वेक्षण तैयार किया। इस रचना के विभिन्न पांडुलिपियों को तलाश कर एक संकलन सन् 1968 में तैयार कर अपनी टिप्पणी के साथ डॉ. कृष्ण चन्द्र आचार्य ने एक शोधग्रंथ तैयार किया, इस सर्वेक्षण में आर्य और द्रविड़ नाम से भाषा-विभाजन का कोई उल्लेख नहीं है। खुद काल्डवेल ने अपनी पुस्तक में बाबू राजेन्द्र लाल मित्र के हवाले से बताया है कि भारत की कई भाषाओं का उद्गम द्रविड़ प्राकृत में है। इन भाषाओं को पंच-द्रविड़, पंच-गौर या पंच गौड़ कहते हैं। पंच गौड़ की प्रधान भाषा बांग्ला है, अन्य भाषाओं में उड़िया, हिंदी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती और मराठी को माना है।

भारतीय भाषाओं के बीच भेद पैदा करते हुए काल्डवेल ने अपनी पुस्तक में कुल तेरह बिन्दु बताए हैं जिसमें तेरहवाँ बिन्दु है वाक्य संरचना। उन्होंने द्रविड़ भाषाओं की वाक्य रचना कुछ इस प्रकार दी है : वाक्य संज्ञा से प्रारम्भ होता है, क्रिया से अन्त होता है। विशेषण विशेष्य संज्ञा के पूर्व आता है। क्रिया विशेषण क्रिया के पूर्व आता है। कर्म जो कि क्रिया से संचालत होता है वह और उसका विशेषित करने वाले सभी शब्द क्रिया के पूर्व आते हैं। विशेषण कृदन्त विशेष्य संज्ञा से पूर्व प्रयुक्त होता है। वाक्य का निषेधात्मक हिस्सा सकारात्मक हिस्से के पहले आता है। सम्बन्धकारक बोधक शब्द सम्बन्धित से पूर्व प्रयुक्त होता है। किसी कारक को प्रभावित करने की स्थिति में पूर्व-स्थानिक (प्रि-पोज़ीशन) संज्ञा के साथ स्थान बदलने पर पर-स्थानिक (पोस्ट-पोजीशन) हो जाते हैं। काशीराम शर्मा ने अन्य बारह बिन्दुओं सहित इस बिंदु की धज्जियाँ उड़ाकर पूछा है क्या हिंदी सहित उत्तर भारत की सभी भाषाओं में ऐसा नहीं होता? यही इस लेखक के तमिल प्रोफ़ेसर ने भी कहा था। गौर करें हिंदी के दो वाक्य : 'मेरा भाई राम तेजी से तुम्हारे घर जा रहा है।' 'रामनगर का रहने वाला राम अपने घर नहीं जा रहा है।' क्या ये पंक्तियाँ काल्डवेल के सूत्र में नहीं बैठती हैं?

कन्नड़ और हिंदी के दो वाक्यों के देखें :

विद्युत जनरेटर मरम्मत में है।

विद्युत आपूर्ति बन्द होने पर (बन्द होने की स्थिति में)

लिफ्ट काम नहीं करेगा (लिफ्ट चलेगा नहीं)

विद्युच्छक्ति जनरेटरु दुरस्तियल्लिदे,

विद्युत सरबराजु स्थगितगोण्डल्लि, लिफ्ट चलवाणे निल्लिवूदु

कन्नड़ भाषा का एक अन्य उदारण देखें :

राम ने रावण को अपने बाण से युद्ध में मार डाला

रामनु रावणनन्नु तन्न बाणदिन्द (बाण-दिन्द)युद्धदल्लि (युद्ध-द्लि) कोन्दनु

स्पष्टतः काल्डबेल ने जिस वाक्य रचना के आधार पर द्रविड़ और उत्तर भारतीय भाषाओं के बीच भेद किया वह आधार ही पोचा साबित होता है। सिर्फ यही नहीं पद-संरचना, मुहावरा निर्माण, सर्वनाम रूप, अंक पद्धति, में उत्तर की सभी भाषाएँ द्रविड़ पद्धति का अनुसरण करती हैं।

संस्कृत विद्वानों द्वारा संस्कृत की श्रेष्ठता सिद्ध करने की प्रवृत्ति का अंग्रेजों ने खूब फायदा उठाया। संस्कृत विद्वानों का

भारतीय भाषाओं के प्रति हेय दृष्टिकोण का जिक्र करते हुए स्वयं काल्डवेल ने कहा कि पैशाची जिसमें द्राविड़ी भी शामिल हैं को राक्षसों या भूतों की भाषा कही जाती है। अंग्रेज भाषा वैज्ञानिकों को भाषाओं में अलगाव पैदा करने में कठिनाई नहीं हुई। सारे भाषाविद् मानते हैं कि भारत की आधुनिक भाषाओं का जन्म प्राकृत से हुआ है। लेकिन प्राकृत के उद्भव को ज्यादातर भाषाविद् संस्कृत से जोड़ते हैं। यहीं से प्रारम्भ होता है भाषाओं के बीच ऊँच-नीच का भेदभाव, ग्यारहवीं शताब्दी के जैन विद्वान नमिसाधु के अनुसार प्राकृत बिना किसी व्याकरण और संवर्धित बोलचाल से प्रभावित प्राकृतिक रूप से बोली जाने वाली भाषा है, ईश्वर का अर्धमागधी प्रवचन ऋषियों की प्राकृत में रचित है, प्राकृत का तात्पर्य है प्राक्-कृत, मतलब प्रथम निर्मित जिससे बाद में संस्कृत और अन्य भाषाओं का निर्माण हुआ। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने अपनी पुस्तक 'पुरानी हिंदी' में भी इस पर विस्तार से लिखा है।

प्राकृत-जन्य भाषाओं का एक अपना शब्द भंडार रहा है जिसे देश्य के नाम से पुकारा जाता है। पारम्परिक वैयाकरण प्राकृत को संस्कृत-जन्य मानते हुए उसके तीन रूप बताते हैं : तत्सम, तद्भव और देश्य। देश्य शब्दों की उत्पत्ति संस्कृत मूल से नहीं हुई है, अतः नमिसाधु द्वारा दी गई परिभाषा ज्यादा वैज्ञानिक लगती है क्योंकि यह प्राकृत की पूरी शब्दावली को औचित्य प्रदान करती है। देश्य शब्दों के बारे में ग्रियर्सन भी कहते हैं कि ज्यादातर देश्य शब्दों के मूल को संस्कृत में तलाशा जा सकता है, अर्थात वे सही अर्थों में तद्भव हैं। इस मत का परिणाम है कि किसी भी देश्य शब्द के लिए तत्सम शब्द खोजने की हो लगी रहती है। प्रतिपक्षी मतानुसार ऐसे अनगिनत देश्य शब्द हैं जो तत्सम की मार से बच नहीं पाए या जबरदस्ती तत्सम द्वारा हथिया ए गए। इस विषय पर शान्ति प्रसाद जैन महाविद्यालय, सासाराम के प्रोफेसर डॉ राजेन्द्र प्रसाद सिंह आजकल लगातार लिख रहे हैं। उनकी पुस्तक 'भाषा का समाजशास्त्र' उल्लेख योग्य है।

प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक भगवान सिंह ने अपनी पुस्तक 'आर्य-द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता में लिखा है, 'आर्य तथा भारोपीय भाषाएँ ठीक उसी स्रोत या भाषिक स्तर से उत्पन्न हुई हैं जिससे द्रविड़ भाषाएँ और तमिल इन समस्त भाषाओं की तुलना में उस स्तर के सर्वाधिक निकट हैं। अतः भारोपीय भाषा-क्षेत्र में भी कोई तुलनात्मक अध्ययन तब तक निर्भ्रांत नहीं हो सकता जब तक वह तमिल से अपेक्षित मार्गदर्शन लेता हुआ नहीं चलता है।' उन्होंने कहा कि इस दिशा में अध्ययन का उद्देश्य कुतूहल उत्पन्न करना नहीं रहा है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा दिए गए प्रमाण और उठाये गए प्रश्नों को देखने से प्रतीत होता है कि भारतीय भाषाओं का प्रचलित भेदकारी तुलनात्मक अध्ययन किसी षड्यंत्र का हिस्सा है। भगवान सिंह का कहना है कि भारत भाषाई विभिन्नता का देश है लेकिन इस विभिन्नता की खासियत यह है कि इन सभी भाषाओं के बीच परस्परता और समन्वयता रही है जिससे कम्यूनिकेशन का प्रवाह बना रहता है। भाषाई एकता के लिए आवश्यक है कि भारतीय भाषाओं के विज्ञान का एक समन्वित इतिहास लिखा जाए। भाषा विज्ञान की यह विचारधारा प्रतिपक्ष न बनी रहे।

(सामयिक वार्ता से साभार)

''शिल्पश्री'' स्व0 राम प्रसाद प्रजापति

मे0 काष्ठ खिलौना औद्योगिक उत्पादन सह0 समिति लि0

वाराणसी कैन्ट रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म नं0 4/5 पर शोरूम

काशी के कलाकारों के कृतियों का प्रदर्शन

रविन्द्र प्रजापति
महामंत्री

सम्पर्क-सूत्र-9450533522

दुर्गा देवी
अध्यक्ष

फासीवादी उभार का भाषाई पहलू

❑ *लाल्टू*

2019 के संसदीय चुनावों में फासीवादी ताकतें पूरा जोर लगाएँगी कि वे सत्ता हथिया लें। देश-विदेश से आया बेइंतहा सरमाया उनके साथ है, मीडिया का बड़ा हिस्सा उनके साथ है। पिछले चुनावों से पहले ही मीडिया पंडितों ने लोगों की राय के सर्वेक्षण के आधार पर यह घोषणा कर दी थी कि मोदी जी तो बस आ ही गए। जो सवालतब पूछा गया था वही आज भी हमारे सामने है कि अगर किसी तरह 2019 में मोदी को रोक भी लिया जाए, तो क्या भारत में फासीवादी उभार रुक जाएगा। कुछ बातें जो चार सालपहले कही गई थीं, उनको दुबारा कहा जाना चाहिए।

फासीवाद एक सामूहिक मनोरोग है जो अनुकूलऐतिहासिक परिस्थितियों में सिर उठाता है। पिछले दो दशकों में भारत में लगातार इसकी ताकत बढ़ते रहने के कई कारण हैं। इन कारणों पर बहुत सारे चिंतक विमर्श करते रहते हैं। पर एक कारण ऐसा भी है, जिस पर बातचीत कम हुई है और सुनियोजित ढंग से नहीं हुई है। अगर हम यह देखें कि गत बीस सालों में कौन सी बातें एक जैसी रफ्तार से बढ़ती रही हैं, तो उनमें एक मुद्दा भाषा का होगा।

यह हालके दशकों में ही हुआ है कि भारत के संपन्न वर्गों ने जबरन अंग्रेज़ी को भारतीय भाषा बना दिया है। आज़ादी के तुरंत बाद अंग्रेज़ी एक कामकाजी भाषा तो थी, पर शायद ही कोई इसे तब भारतीय भाषा कहता हो। अब स्थिति बिल्कुल उलट गई है। संपन्न वर्गों की एक ऐसी श्रेणी है जो यह सुनते ही कि आप अंग्रेज़ी को भारतीय भाषा नहीं मानते, आप पर तरह तरह के आक्षेप लगाएगी कि आप संकीर्ण सोच में फँसे हैं। हालाँकि सचमुच अंग्रेज़ी भारतीय भाषा आज भी नहीं है, क्योंकि इसका इस्तेमालसंपन्न वर्गों के लोग ही कर पाते हैं। अगर इस आधार पर किसी देश की भाषा तय हो तो उन्नीसवीं सदी में फ्रांसीसी भाषा को आधे से अधिक यूरोपी देशों की भाषा माना जाता। तुर्गेनेव तक ने अपना शुरूआती लेखन फ्रांसीसी भाषा में किया था। ऐसा कोई नहीं कहेगा कि फ्रांसीसी रूस की भाषा थी, पर हमारा देश है कि यहाँ अंग्रेज़ी भारतीय भाषा नहीं है कहते ही चिल्ल-पों मच जाती है। जाहिर है कि आर्थिक दृष्टि से जैसा भी हो, मूल्यों की दृष्टि से भारतीय समाज आज भी मुख्यतः सामंती है। और फासीवाद के उभार में एक ज़रूरी कारण सामंती मूल्यों का वर्चस्व है। संभव है कि विश्व-स्तर पर सूचना लेन-देन की वजह से सौ सालों के बाद अंग्रेज़ी अपने आप एक भारतीय भाषा बन जाए, तो इसमें कोई बुराई नहीं है। पर जिस तरह आज इसे थोपा गया है, इसकी कीमत समाज को चुकानी पड़ रही है।

आज यह भारत में ही है कि जनसंख्या के उस विशाल वर्ग पर, जो आधुनिक समय की सुविधाओं से वंचित हैं, बौद्धिक विमर्श ऐसी भाषा में होता है जिसका इस्तेमाल उन्हें वंचित स्थिति में रखने के लिए औजार की तरह किया गया है। भारतीय भाषाओं में विमर्श सीमित होते जा रहा है। जैसे-जैसे संपन्न वर्ग भारतीय भाषाओं से विमुख हो रहा है, आर्थिक कारणों से इन भाषाओं की रीढ़ टूटती जा रही है। मसलन हिंदी क्षेत्र के बड़े केंद्र राजधानी दिल्ली से निकलती दर्जनों हिंदी पत्रिकाओं में से एक भी ऐसी नहीं है जो इस एक शहर के बूते पर चलसके। बिहार, उत्तर प्रदेश, आदि राज्यों के ग़रीब पाठकों के चंदे से या सरकारी मदद से ही ये पत्रिकाएँ चलरही हैं। अंग्रेज़ी पत्रिकाओं को इस दयनीय हाल से नहीं गुजरना पड़ता।

हममें से कई लोग मजबूरी में अंग्रेज़ी का इस्तेमाल करते हैं, पर अधिकतर मान चुके हैं कि अंग्रेज़ी के बिना अब कोई राह नहीं। यह बड़ी विड़ंबना है। एक समय था जब तमाम मुसीबतों के बावजूद फारसी और संस्कृत तक में समकालीन यूरोपी कृतियों के अनुवाद उपलब्ध होते थे। होना यह तय था कि समय के साथ इन शास्त्रीय भाषाओं के अलावा बोलचाल की भाषाओं में सामग्री उपलब्ध हो। और तकनीकी तरक्की से यह काम आसान भी होता गया है। पर जापान, चीन के बरक्स हमारे यहाँ बहुत कम ही लोग इस तरह के शोध या तकनीकी-विकास में लगे हैं, जिससे एक से दूसरी भाषाओं में अनुवाद का काम आसानी से हो सके।

भाषा के महत्व पर सापिर, ह्वोर्फ, वायगोत्स्की से लेकर स्टीवेन पिंकर तक अनगिनत विद्वानों ने लिखा है। हमारे देशी विद्वान इनको पढ़ते पढ़ाते हैं और अंग्रेज़ी में हमें बतलाते हैं कि थोपी गई भाषा मनुष्य के सामान्य विकास में बाधा पहुँचाती है और कई तरह की विकृतियाँ पैदा करती है। समझना मुश्किल है कि ऐसे ज्ञान-पापी रातों को सोते कैसे होंगे। हम जो कह रहे हैं निरंतर उसके विपरीत आचरण कर रहे हैं।

एक तर्क यह है कि भारत की इतनी सारी विविध भाषाओं में काम कर पाना संभव नहीं है। हम ग़रीब हैं और हमारे पास पर्याप्त संसाधन नहीं हैं। यह झूठ चलता रहता है, जबकि भारत दुनिया में मारक अस्त्रों का सबसे अधिक आयात करने वाला देश है। राष्ट्रीय बजट का एक चौथाई सुरक्षा खाते में जाता है। अगर इस बात को छोड़ भी दें तो भी सवालयह है कि अंग्रेज़ी के अलावा हम किसी भारतीय भाषा में भी पढ़ते लिखते हैं या नहीं। राज्य स्तर पर स्थानीय भाषा में विमर्श हो और राष्ट्रीय स्तर का विमर्श अंग्रेज़ी में हो, इसमें आज कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हो यह रहा है कि मुद्दों की गहराई तक जाने के लिए पठनीय या शोध सामग्री ढूँढने

वाले अधिकतर लोग अंग्रेज़ी के अलावा कुछ पढ़-लिख नहीं रहे। ऐसा करते हुए उन्होंने खुद को ज़मीनी सच्चाइयों से भी काट लिया है और जब स्थितियाँ अपनी समझ से अलग बिगड़ती हुई दिखती हैं तो उन्हें अचंभा होता है। आखिर इसमें आश्चर्य क्या कि जब बहुसंख्यक लोगों के साथ बातचीत के लिए पोंगापंथियों की भरमार है और समझदार लोगों का अभाव है तो देश में फासीवाद का उभार दिखने लगा है।

देश के अधिकतर लोग टीवी देख कर अंग्रेजी की गुटर-गूँ सुन तो लेते हैं पर उन्हें यह भाषा समझ नहीं आती। अंग्रेज़ी में वंचितों के पक्ष में प्रखर भाषण दे रहा विद्वान उनके लिए कुछ तो मनोरंजन का पात्र है, और कुछ अवचेतन में पलते आक्रोश का कारण। यही आक्रोश आखिर फासीवादी विकृतियों में बदलने में मदद करता है। मजेदार बात यह है कि अंग्रेज़ी वाले यह सोचते हैं कि उनकी बहसों को देश गंभीरता से ले रहा है। अरे! जो अंग्रेज़ी समझता ही नहीं, वह इस गुटर-गूँ को क्या समझेगा। भाषा सिर्फ भाषा नहीं होती, हम जो भाषा बोलते हैं, वही हमें परिभाषित करती है। सापिर-व्होर्फ ने भाषाई निश्चितता का सिद्धांत दिया था, कि भाषा के अलावा हमारे अस्तित्व में और कुछ अर्थ ही नहीं रखता, जिसे हम दुनिया मानते हैं, उसे भाषा ही हमारे लिए बनाती है - यह शायद कुछ अतिरेक ही था; पर उसके बाद भी तमाम भाषाविदों ने बार-बार चेताया है कि भाषा ही जैविक विकास का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। हमारी विश्व-दृष्टि, जीवन के प्रति हमारा नज़रिया, इनके साथ भाषा का गहरा संबंध है। हम अपनी बात को औरों तक पहुँचाने, सही-ग़लत के बारे में अपनी समझ साझी करने के लिए भाषा का इस्तेमाल करते हैं। यह अकारण नहीं है कि मोदी की भाषा हमारी सांप्रदायिक अस्मिता को जगाने में सफलहो जाती है और गाँधी से लेकर वाम के तमाम समूहों का विमर्श जिसमें लगातार अंग्रेज़ी बढ़ती जा रही है, बड़ी संख्या में लोगों को मुश्किल से छू पा रहा है।

जो लोग देश के सामान्य जन पर बात करते हैं और किसी भी भारतीय भाषा को पढ़ते लिखते नहीं हैं, उन्हें खारिज करना जरूरी है, क्योंकि देश में फासीवाद के उभार का एक कारण वे खुद हैं। कई तो ऐसे हैं कि सिर्फ अंग्रेज़ी में हल्का-फुल्का लिख कर ही स्व-घोषित पंडित बने घूमते हैं। वह कुछ भी कहते हैं तो अंग्रेज़ी मीडिया उसे उछालता है। देशी भाषाओं में मीडिया का प्रबंधन ऐसे ही लोगों के हाथ होने के कारण अक्सर इन भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेज़ी का पिछलग्गूपन दिखता है। कई हिंदी पत्रिकाओं का नाम अंग्रेज़ी में है, वो भी ऐसे लफ्ज़ जो आम आदमी नहीं समझता। सौ साल बाद समाजशास्त्री और संचार विज्ञान के शोधार्थी इस पर काम करेंगे कि आज का भारतीय बुद्धिजीवी किस तरह की कृत्रिम दुनिया में जी रहा है और इसके कारणों में भाषा का सवाल कितना महत्वपूर्ण है। अंग्रेज़ी लचीली भाषा है, अंग्रेज़ी की शब्दावली बड़ी है; स्वाभाविक है कि अंग्रेज़ी के शब्द भारतीय भाषाओं में आ रहे हैं - यह सब तो ठीक है, पर जो खलिश है, वह यह है कि बकौल गाँधी 'अंतिम जन' को उसकी अपनी भाषा में बात करता कौन दिखता है। जैसे-जैसे विमर्श की धुरी अंग्रेज़ी की तरफ होती चली है, भारतीय भाषाओं में तकनीकी शब्दों का संकट भी बढ़ता चला है। आम आदमी ही नहीं बुद्धिजीवियों के लिए भी ये भाषाएँ कठिन होती जा रही हैं और उनके विमर्श में भागीदारी करने वालों का दायरा भी सिमटता जा रहा है। कुलमिलाकर एक अजीब स्थिति है, जिसे कई लोग भारत और इंडिया के दो समांतर दुनिया का नाम देते हैं। देशी भाषा में बातें करते हुए अगर हम महज अंग्रेज़ी का अनुवाद ही कर रहे हैं, तो वह भारत की नहीं, इंडिया की ही भाषा है। धीरे-धीरे भारत कमजोर पड़ता जा रहा है, चुनांचे वह फासीवादियों के चंगुल में फँसता जा रहा है। कई लोग कहेंगे कि यह रैखिक युग्मक (बाइनरी) में फँसी हुई सोच है, पर सचमुच मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह जटिलऔर साथ ही सामाजिक घटना के रूप में बड़ी सरल सी बात है। अंग्रेज़ी सीखना या बोलना अपने आप में कोई दोष नहीं है, पर भारतीय सामाजिक-राजनैतिक परिदृश्य में कई अंग्रेज़ी वाले एक अलग सत्ता अपना लेते हैं। यह इंग्लिशवाला होना अपने साथ देशी भाषा के प्रति उदासीनता ही नहीं, उपेक्षा का स्वभाव लिए होता है। इंग्लिशवाला होना शासक वर्गों के साथ होना है, आम लोगों से अलग होना है। तो आम लोगों तक पहुँचने के लिए कौन बचा रहेगा? जब तक सामाजिक विसंगतियों के खिलाफ प्रतिबद्ध सोच रखने वाला कोई है तो ठीक है, जब शासन की मार या अन्य कारणों से ऐसे लोग नहीं हैं तो मैदान संकीर्ण राष्ट्रवाद के लिए खुला है। भाषाओं का कमज़ोर होना सिर्फ मुहावरों का विलुप्त होना नहीं है, यह सामूहिक और निजी अस्मिता का घोर संकट पैदा करता है। इस संकट से निपटने के कई तरीके हो सकते हैं - एक तो यह कि हर स्तर पर स्थानीय भाषाओं में काम हो, कम से कम माध्यमिक स्तर तक शिक्षा मातृभाषा में हो। इसके विपरीत फासीवाद वह मरीचिका है जो सामयिक रूप से उत्पीड़ित को इस ताकत का आभास देती है कि मेरी बोली में ताकत न हो न सही, पर अपनी भी कोई हस्ती है। जब भाषा में बिखराव होता है, जैसा कि आम लोगों पर बोलते हुए अँग्रेजीदाँ विशेषज्ञों में दिखता है, तो वह सतही रह जाती है और सवालों का हल नहीं दे पाती। फासीवादी संगठनों में समकालीन विमर्श एकतरफा होता है और उनके अधिकतर कार्यकर्त्ता देशी भाषाओं में पारंगत होते हैं। वे लोगों में यह भ्रम पैदा करने में भी सफल हो जाते हैं कि उनकी भाषाएँ दरअसल एक महान पवित्र स्रोत, यानी संस्कृत से निकली हैं, जिसे दरकिनार किया गया है। जैसे कि पूँजीवादी व्यवस्था नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक षड़यंत्र ही उनकी समस्याओं की जड़ है। इस तरह अपने ही लघुसंख्यक लोगों के खिलाफ ज़हर फैलाकर फासीवाद अपनी जड़ें जमाने में सफल होता है।

(सामयिक वार्ता से साभार)

भूमंडलीकरण की भाषा

❑ *दिलीप चव्हाण*

भूमंडलीकरण का आज तक का अध्ययन प्रमुखता से आर्थिक व राजनीतिक स्वरूप का ही अधिक रहा है। विशेषतः भूमंडलीकरण के सांस्कृतिक पहलू उपेक्षित रहे हैं। भूमंडलीकरण के युग में विश्वभर की भाषाओं पर कौन से परिणाम होने वाले हैं, इसकी ओर अध्ययनकर्ताओं ने सापेक्षतः कम ध्यान आकर्षित किया है। अन्य क्षेत्रों की तुलना में भाषा का यह क्षेत्र भूमंडलीकरण के संदर्भ में उपेक्षित रहने के बावजूद, भूमंडलीकरण के कारण वैश्विक स्तर पर भाषाओं पर दूरगामी तथा भयावह परिणाम हुए हैं।

विश्व में आज कुल मिलाकर कितनी भाषाएँ बोली जाती हैं, यह प्रश्न कुछ अंशों में अनुत्तरित है। डेविड क्रिस्टल ने विश्व में 3,000 से 10,000 भाषाएँ होने का अनुमान व्यक्त किया है। कौन सी भाषा 'भाषा' है और कौन सी भाषा 'बोली' है वह प्रमुख रूप से राजनीतिक व सामाजिक घटक तय करते हैं। उदाहरणार्थ भारत में 1951 में पंजीकृत न की गई 103 नई भाषाएँ 1961 में पंजीकृत की गई थीं। इससे स्पष्ट होता है कि किसी राष्ट्र के भाषिक व्यवहार कितने जटिल होते हैं।

वैश्विक स्तर की भाषिक रचना वैश्विक स्तर पर विषमसत्ता रचना को प्रतीत कराने वाली है। एक चिंतक के अनुसार, विश्व में आजकल चार प्रकार की भाषाएँ हैं। प्रादेशिक भाषाएँ, केन्द्रीय भाषाएँ, अति-केंद्रीय भाषाएँ व अत्यधिक केंद्रीय भाषाएँ। क्षेत्रीय भाषाओं में विश्व की 98 प्रतिशत भाषाओं का समावेश होता है और विश्व के 10 प्रतिशत ये भाषाएँ बोलते हैं। साधारण रूप से इन भाषाओं की लिपि नहीं है। इन भाषाओं का समावेश होता है और विश्व के 10 प्रतिशत लोग ये भाषाएँ बोलते हैं। साधारण रूप से इन भाषाओँ की लिपि नहीं है। इन भाषाओं से केंद्रीय भाषाएँ जोड़ी गई हैं और उनकी संख्या लगभग 100 है। प्रादेशिक भाषा का उपयोग करने वाले संपर्क भाषा के रूप में इन भाषाओं का उपयोग करते हैं। केंद्रीय भाषाओं को राष्ट्रीय/ सरकारी भाषाओं का स्थान देकर उनका उपयोग शिक्षा व्यवस्था में प्रमुता से किया जाता है। विश्व के 95 प्रतिशत लोग केंद्रीय भाषा बोलते हैं। अति-केंद्रीय भाषा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर केंद्रीय भाषाओं को जोड़ने का काम करती हैं। इन भाषाओं में अरबी, चीनी, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, हिंदी, जापानी, मालया, पोर्तुगीज, रशियन, स्पेनिश और स्वाहिली आदि भाषाओं का समावेश होता है। इन अति-केंद्रीय भाषाओं को जोड़नेवाली अत्यधिक केंद्रीय भाषा के रूप में अंग्रेजी काम कर रही है। उपनिवेशवाद के द्वारा पूँजी तथा उत्पादनों का जो अंतर्राष्ट्रीयकरण हुआ। उस काल में अंग्रेजी का एक वैश्विक भाषा के रूप में उद्भव हुआ। कोई खास भाषा का अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उद्भव होना विश्व के इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। अंतर्राष्ट्रीय भाषा नई आर्थिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यकता ही थी। अंग्रेजी भाषा इस आवश्यकता को पूरा करने वाली सिद्ध हुई। अंग्रेजी जब अंतर्राष्ट्रीय पूँजीवादी सत्ता/साम्राज्यवाद की एकाधिकारी भाषा के रूप में स्थापित हो चुकी है।

इस तरह अंग्रेजी भाषा का अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एकाधिकारी भाषा के रूप में उद्भव हुआ है। यह उस भाषा की कुछ स्वाभाविक विशेषताओं के कारण नहीं हुआ है, यह बिल्कुल स्पष्ट है। अंग्रेजी भाषा के इस उद्भव की आलोचना डेविड क्रिस्टल जैसे अनेक चिंतक समीक्षात्मक पद्धति से करते हैं। रॉबर्ट फिलिप्सन टोव्ह स्कुटनाब-कंगास व मार्नी हॉलबोरो इन अनेकों में से तीन चिंतकों ने अंग्रेजी के उद्भव तथा विकास का विचार आँख मूँदकर न करते हुए साम्राज्यवाद के विस्तार के संदर्भ में किया है।

साम्राज्यवादी सत्ता के शिकंजे में भाषा

किसी भी समाज में कौन से सामाजिक समूह कौन सी भाषा बोलते हैं, कौनसी भाषा सत्ताधीशों की भाषा बनती है, कौन से समूहों को कौन सी भाषा उपलब्ध नहीं होती, कौन सी भाषा मानक भाषा बनती है, ये सारे सवाल भाषा की चर्चा को राजनीति के अखाड़े में खींचते हैं और भाषा एवं सत्ता के परस्पर संबंधों को रेखांकित करते हैं। सत्ताधारी वर्ग भाषा का महत्व जानता है, इसलिए वह भाषा की राजनीति करता है। आधुनिक काल में अपनी भाषा शासितों पर लादने में ही उसके हित जुड़े होते हैं।

भाषा सिर्फ यातायात का साधन नहीं होती, यह विचारधारा की वाहक भी होती है। भारत में संस्कृत भाषा ब्राह्मणवादी विचारधारा की वाहक थी। समाज का ऊपरी वर्ग अक्सर सत्ताधारी वर्ग की भाषा सीखकर सत्ता का हिस्सा बनने का प्रयास करता है। मध्ययुगीन भारत में ब्राह्मणों ने पर्शियन सत्ताधारियों की भाषा बड़े पैमाने पर आत्मसात की थी। बाद में उन्होंने अंग्रेजी पर भी प्रभुत्व पाया था। भारतीय अंग्रेजी शिक्षा पर औपनिवेशिक काल से उच्च जातियों की इजारेदारी रही है।

भाषा का साम्राज्यवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद के लिए पूरक होता है। वैश्विक पूँजीवादी सत्ता की भाषा अंग्रेजी को लादना तथा उसके लिए विश्व की सभी भाषाओं को मौत की खाई में ढकेलना यह साम्राज्यवाद का भाषिक एजेंडा है। इसके लिए टोव्ह स्कुटनाब-कंगास ने 'भाषाई संहार' संज्ञा का उपयोग किया है। डेविड क्रिस्टल व अन्य चिंतकों द्वारा दी गई 'भाषाई मृत्यु' की अवधारणा में भाषा की प्राकृतिक मृत्यु होने का भाव छिपा रहता है। भाषा की मृत्यु के राजनीतिक कारणों की आलोचना एवं उसकी संभावना 'भाषा की मृत्यु' की अवधारणा में नहीं होती है। जो सामाजिक-राजनीतिक शक्तियाँ इस भाषाई संहार के लिए जिम्मेदार है, उन्हें 'भाषा की मृत्यु' की संकल्पना दोषमुक्त रखती है।

आज विश्व के लगभग 6,000 भाषाओं में से 3,000 भाषाएँ इस शताब्दी के अंत कर समाप्त हो जाएँगी। भाषा की मृत्यु

का अनुपात आज प्रत्येक दो सप्ताह बाद एक भाषा है। आज विश्व में 100 से कम लोगों द्वारा बोली जाने वाली 500 भाषाएँ हैं। 1,500 भाषाओं के सिर्फ 1,000 भाषिक हैं और 3,000 भाषाएँ ऐसी हैं जिन्हें बोलने वालों की संख्या महज 10,000 है। पूरा विश्व भाषिक संहार की खाई में धकेला जा रहा है। मनुष्य जाति द्वारा बड़ी मेहनत से विकसित की गई भाषा की संपदा, उसमें स्थित ज्ञान तथा संस्कृति को साम्राज्यवाद नष्ट कर रहा है। जिस भाषा के 30 प्रतिशत से अधिक लोग भिन्न भाषा में शिक्षा लेते हैं वह भाषा खत्म होने को है, ऐसा अनुमान है। इस अनुमान के अनुसार भारत की अनेक भाषाएँ मृत्यु की कगार पर खड़ी हैं।

सदरलंड नाम के चिंतक ने ऐसा दिखा दिया है कि, स्तनधारी प्राणियों एवं पंछियों की प्रजातियों की तुलना में भाषाओं के लुप्त होने का अनुपात अधिक है। पंछियों की प्रजातियों के लुप्त होने का अनुपात 1.3 प्रतिशत है। आज तक पंछियों की 182 प्रजातियाँ लुप्त हो चुकी हैं। स्तनधारी प्राणियों की प्रजातियों के लुप्त होने का अनुपात 1.9 प्रतिशत रहा है। अभी तक स्तनधारी प्राणियों की 87 प्रजातियाँ लुप्त हुई हैं तो भाषाओं के लुप्त होने का अनुपात 4.5 प्रतिशत है और आज सैकड़ों भाषाएँ नष्ट हुई हैं। भाषाई साम्राज्यवाद को समझने के लिए 'फोर्ड फाउंडेशन' (फोफा) का उदाहरण लिया जा सकता है। सन् 1936 में अमरीका में स्थापित हुए इस फाउंडेशन का उपयोग विश्व को साम्यवाद से बचाने के लिए करना निश्चित हुआ था। भारत में 'फोफा' का प्रवेश 1952 में हुआ। भारत में 'फोफा' का उद्देश्य भारत को चीन अर्थात् साम्यवाद से बचाना था।

'फोफा द्वारा 1950 के बाद विश्व में अंग्रेजी के प्रचार हेतु स्थापित व्यावहारिक भाषाविज्ञान (एप्लाइड लिंग्विस्टिक) के केंद्र ने विश्व के 38 देशों को धन देना शुरू किया। यह बदलती पूँजीवादी सत्ता की आवश्यकता के अनुसार पूरे विश्व की भाषाओं की पुनर्ररचना कराने का कार्यक्रम था। उपनिवेशवाद का अंत होने के बाद भी अंग्रेजी को एक 'माध्यम भाषा' के रूप में प्रचार की आवश्यकता इंग्लैंड (पुराना साम्राज्यवादी) और अमरीका (आज का साम्राज्यवादी) दोनों को थी। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु 'फोफा' बड़े पैमाने पर विश्वभर में फैली।

भारत की 'सेंट्रल इंस्टिट्यूट ऑफ इंग्लिश एण्ड फ़ारेन लैंग्वेजस्' हैदराबाद (आज का नाम दि इंग्लिश एण्ड फॉरेन लैंग्वेजस् यूनिवर्सिटी, हैदराबाद) अंग्रेजी भाषा का अध्ययन की महत्वपूर्ण संस्था है। भारत सरकार के नियंत्रण में होने के बावजूद इस संस्था को ब्रिटिश काउंसिल (इंग्लैंड) और 'फोफा' (मरीका) इन दो साम्राज्यवादी संस्थाओं की ओर से काफी धन मिला है। 'फोफा' की ओर से 1958 से 1969 तक इस संस्था को 10,42,00 डालर मिले हैं। विश्व भर में अंग्रेजी के प्रचार हेतु अमरीका ने अभी तक कई हजार करोड़ डालर खर्च किये हैं।

आज विश्व की भाषिक विविधता कायम है– ऐसा भले ही दिखाई दे रहा हो, पर भाषिक विविधता काफी खतरे में है। जो भाषाएँ छोटी हैं, वे लुप्त होने की कगार पर हैं। एक आशावादी अनुमान के अनुसार आज कुल बोली जानेवाली भाषाओं में से 50 प्रतिशत भाषाएँ इस शताब्दी के अंत तक खत्म हो जाएँगी। एक निराशावादी किंतु अत्यंत यथार्थवादी अध्ययन के अनुसार इस शताब्दी के अंत तक आज की कुल भाषाओं में 90 से 95 प्रतिशत भाषाएँ नष्ट हो जाएँगी। यूनेस्को के 'इनटंजिबल कल्चरल हेरिटेज यूनिट' के एक अस्थाई-समूह ने इस संदर्भ में खतरे में आई भाषाओं की 'लैग्वेज वाइटेलिटी एंड एंडेंजरमेंट' नामक एक रपट तैयार की है। (इस रपट के लिए देखें :http://portal.unesco.unesco.org/culture/en/ev.php-URL_ID=9105&URL-DO-TOPIC&URL_SECTION=201.html).

विश्व की अनेक भाषाओं के खत्म होने के पीछे भूतकाल का उपनिवेशवाद और आज का साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण जिम्मेदार है। पुराने औपनिवेशिक काल में इंग्लैंड, फ्रांस और स्पेन जैसे देश व अमरीका जैसा साम्राज्यवादी देश विभिन्न अल्पसंख्यक सांस्कृतिक एवं भाषिक समूहों को खुद के असरदार 'राष्ट्रीय' प्रवाह में समायोजित करने की राजनीति करते आए हैं। एक निरीक्षण के अनुसार पिछले 200 वर्षों में अमरिका व आस्ट्रेलिया ने जितनी भाषाएँ नष्ट की हैं उतनी अन्य किसी देश ने नष्ट नहीं कीं। स्थानान्तरण के द्वारा अमरीका में पहुँचे नए भाषिक सांस्कृतिक समूहों की भाषा तीन पीढ़ियों में नष्ट होनी चाहिए, ऐसी तत्परता दिखाने में अमरीकी शिक्षा विभाग हमेशा तैयार रहता है। साम्राज्यवाद का लक्ष्य केंद्रीकरण तथा वैश्विक एकनिष्ठता होता है। स्थानीय संस्कृति, भाषा, विचारों की पद्धतियाँ नष्ट कर उसकी जगह असरदार वर्ग की संस्कृति, भाषा व विचारों की पद्धति को स्वीकारा जाता है। भाषाई सांस्कृतिक विविधता ज्ञान के पोषण के लिए तथा ज्ञान का लोकतंत्रीकरण करने के लिए आवश्यक है। इस विविधता का पोषण करने में साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण की कोई रुचि नहीं है।

उपनिवेशवादियों तथा साम्राज्यवादियों ने उनके वर्चस्व को कायम रखने वाली रचनाओं को सुरक्षित रखने के लिए विश्वभर की भाषाओं का 'प्रबंधन' किया है। उपनिवेशवादियों द्वारा संस्कृत की 'खोज', उसके द्वारा रचित भारतीय भाषाओं के व्याकरण, कोष और अनुवाद उपनिवेशवाद की आवश्यकता हेतु था। आधुनिक काल का अमरीकी साम्राज्यवाद विश्वभर की भाषाओं के प्रबंधन की जिम्मेदारी लेता है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद इंग्लैंड और अमरीका ने संयुक्त रूप से 'तीसरे'/'स्वतंत्र' देशों के अचानक 'स्थापित व्यावहारिक भाषाविज्ञान' को जन्म दिया। इन देशों की भाषाओं का अध्ययन करना, यह 'स्थापित व्यावहारिक भाषाविज्ञान' का प्रयोजन था। इसके अतिरिक्त अमरीका ने 1947 में 'रॉक फेलर फाउंडेशन' नामक साम्राज्यवादी शिक्षा संस्था की स्थापना कर इंटेनसिव लैंवेज प्रोग्राम का नियोजन किया। इस कार्यक्रम के अंतर्गत 56 भाषाओं के लिए लैंगवेज गाइड्स और 30 भाषाओं के लिए सेल्फ टीचिंग लैंगवेज कोर्सेस तैयार किए गए। एक अमरीकन अधिकारी द्वारा कही गई बात अमरीका में भाषिक साम्राज्यवादी भूमिका की गवाही है।

अतः साम्राज्यवादियों के इन नीतियों से अंग्रेजी के संस्थायीकरण की प्रक्रिया प्रभावित हुई है। भूमंडलीकरण के युग में अंग्रेजी के इस प्रभाव को दुनियाभर की भाषाएँ महसूस कर रही हैं।

‘अंग्रेजी में काम न होगा, फिर से देश गुलाम न होगा’ आंदोलन के 50 साल होने पर हम साथियों ने एक बार फिर लोगों को जगाने और व्यवस्था का नजरिया और व्यवहार बदलने के लिए आंदोलन छेड़ने का संकल्प लिया है। जहाँ एक ओर पूरी दुनिया के शिक्षाशास्त्री और समाजवैज्ञानिक लोगों के ज्ञान के विकास और तरक्की के साथ ही समाज में समता लाने के लिए अपनी मातृभाषा के माध्यम और व्यवहार को अधिक सुगम और मजबूत तरीका बताते रहे हैं, वहीं हमारा देश अभी भी गुलामी की भाषा अंग्रेजी को ढो रहा है। यहाँ अंग्रेजी सत्ता और प्रभुत्व का पर्याय बनी हुई है। हमने आजतक यह देखा ही नहीं कि सभी विकसित और ताकतवर देशों ने अपने नौनिहालों की शिक्षा और व्यवहार में अपनी मातृभाषाओं को ही अपनाया है, चाहे वह इंग्लैण्ड, अमेरिका और आस्ट्रेलिया हो, चाहे फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, पुर्तगाल, इटली, रूस, चीन और जापान हो। नतीजा यह है कि अंग्रेजी हमारी पुरानी सामंतवादी सोच और नए पूंजीवादी कुचक्र का उपकरण बनी हुयी है। शिक्षा के बाजारीकरण से पैदा होने वाली गैरबराबरी और सरकार तथा न्यायालय के व्यवहारों से शोषित और अनभिज्ञ आम लोगों में लगातार बढ़ती कुंठा का यह एक बुनियादी कारण है।

अंग्रेजी हटाओ, भारतीय भाषा बचाओ सम्मेलन

की सफलता के लिए शुभकामना

डॉ0 उपेन्द्रनाथ त्रिपाठी

प्राचार्य

श्यामतारा महिला महाविद्यालय

कोसरा, मिर्जामुराद, वाराणसी

4. यह सम्मेलन इस बात की भी माँग करता है कि राजभाषा विधेयक 1963 और राजभाषा संशोधन विधेयक 1967 रद्द हों जिससे अंग्रेजी का संवैधानिक अधिकार समाप्त हो और भारतीय भाषाओं के मार्ग में रोड़ा बनी अंग्रेजी विदा हो ले। राजभाषा अधिनियम 1963 लोकसभा में 13 अप्रैल 1963 को, राज्यसभा में 3 मई 1963 को प्रस्तुत किया गया था। अधिनियम के मुख्य उपबन्धों में भारतीय भाषाओं को सार्वजनिक प्रयोग में लाने की छूट दी गयी किन्तु उसका अंग्रेजी अनुवाद देना अनिवार्य कर दिया गया। इसी विधेयक की धारा 3 में यह प्रावधान किया गया कि अंग्रेजी का प्रयोग पूर्ववत् जारी रखा जायेगा। इस विधेयक में व्यवस्था दी गयी कि 26 जनवरी 1965 के 10 वर्ष बाद एक समिति जाँच करेगी और राज्य सरकारों से राय लेकर ही अंग्रेजी का प्रयोग बन्द होगा। इस समय मैथिलीशरण गुप्त राज्यसभा के सदस्य थे। उन्होंने इसका विरोध किया और कहा– *अंग्रेजी के पक्षपातियों लो अंग्रेजी बनी रही।*

अंग्रेजीपरस्त इस अधिनियम से संतुष्ट नहीं हुए। अतः 26 नवम्बर 1967 को संशोधन विधेयक लोकसभा में लाया गया। 16 दिसम्बर 1967 को यह पारित हो गया। 22 दिसम्बर 1967 को राज्यसभा ने इसे पारित किया। 8 जनवरी 1968 को राष्ट्रपति ने इस पर हस्ताक्षर किया। अंग्रेजी अब सदा के लिए सहभाषा का दर्जा प्राप्त कर ली। लोहिया ने ठीक कहा था कि सहभाषा एक दिन प्रमुख भाषा हो जायगी और वैसा ही हुआ। इस विधेयक ने भाषा के मामले में हमें 1947 में पहुँचा दिया। अतः राजभाषा के ये दोनों विधेयक भारतीय भाषा विरोधी हैं। इनके कारण हिन्दुस्तान अंग्रेजी के साम्राज्य के रूप में बदल चुका है।

5. सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में अंग्रेजी माध्यम के विद्यालय न केवल हमारी भाषिक-सम्पदा का विनाश कर रहे हैं अपितु वे अपसंस्कृति के उत्पादक भी बन गए हैं। भयावह स्थिति तक पहुँची उनकी आर्थिक लूट उन्हें शोषण केन्द्र के रूप में बदल चुकी है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से की जा रही लूट किसी भी लूट की घटना से बड़ी है जिसे कूतना कठिन है। इस लूट में अधिकारी, राजनेता सब शामिल हैं। हर दूसरा परिवार इस लूट का शिकार है। लाखों शिक्षक-शिक्षिकाएँ भी शिकार हैं।

इस सम्मेलन की मंशा साफ है। उपर्युक्त प्रस्तावों को ध्यान में रखते हुए यह सम्मेलन अपनी स्पष्ट माँग रखता है कि कानून बनाकर इस शोषण को रोका जाय और इन विद्यालयों को भारतीय भाषाओं के माध्यम में बदला जाय।

6. यह सम्मेलन राज्य सरकारों से अपेक्षा करता है कि वे राज्य के संविधान में वर्णित भाषा या भाषाओं में ही अपना कामकाज करें और अपने शिक्षण-संस्थाओं में पठन-पाठन उन्हीं भाषाओं में चलाएँ। इधर कई राज्यों ने भारतीय-भाषाओं की उपेक्षा शुरू कर दी है। दिल्ली राज्य 700 अंग्रेजी माध्यम के स्कूल अप्रैल से चलाने जा रहा है। देश के सबसे बड़े राज्य उ0प्र0 में सरकार ने 5000 प्राथमिक विद्यालय खोलने का संकल्प लिया है जो अंग्रेजी माध्यम के होंगे। वाराणसी में ऐसे 45 प्राथमिक विद्यालय खुलेंगे।

उ0प्र0 सरकार माध्यमिक विद्यालयों से प्रस्ताव लेकर अंग्रेजी माध्यम की कक्षाएँ चलाने को अनुमति दे रही है। यहाँ अंग्रेजीवाद का अश्वमेध यज्ञ शुरू हो गया है। अनुदानित माध्यमिक विद्यालयों के अतिरिक्त राजकीय विद्यालयों में भी कक्षाएँ शुरू करायी जा रही हैं। हिन्दी माध्यम के समानान्तर अंग्रेजी माध्यम की कक्षाएँ चलवाने में सरकारी अधिकारियों की खूब दिलचस्पी है। इसके लिए उन पर सरकार का जबरदस्त दबाव है।

7. यह सम्मेलन राज्य सरकारों के ऐसे कदमों को असंवैधानिक मानता है और सरकारों के इस निर्णय का विरोध करता है। केन्द्र और राज्य सरकारें आधुनिक तकनीक की आड़ लेकर कार्यालयी कार्य अंग्रेजी में सम्पादित कर रही हैं। जो तकनीक रेल, डाक, बैंक, बीमा आदि विभागों में चल रही है उसने भारतीय भाषाओं का नामोनिशान मिटा दिया है। उत्तर प्रदेश सरकार बिजली का बिल भी अंग्रेजी में दे रही है। केन्द्र सरकार के सभी विभागों में कम्प्यूटर-क्रान्ति का प्रभाव देखा जा सकता है। यह सम्मेलन केन्द्र और राज्य सरकारों से माँग करता है कि लोकभाषा में कामकाज सुनिश्चित करें। कामकाज की भाषा और वोट माँगने की भाषा में अन्तर न हो।

8. यह सम्मेलन भारतीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार के लिए एक ऐसे मजबूत संगठन की आवश्यकता का अनुभव कर रहा है जो सभी भारतीय भाषाओं के लिए काम करे और इसके लिए भाषा कर्मियों को तैयार करे। सम्मेलन की दृढ़ राय है कि पूरे देश में अंग्रेजी के विरुद्ध एक संवाद प्रारम्भ हो गया है और अपनी भाषा के लिए भाषाई आन्दोलन जगह-जगह जोर पकड़ने लगे हैं। इस वजह से आज का समय सन् 1967 के समय से अलग है और विषमताओं के बावजूद आशान्वित करने वाला है। यह संगठन भाषाई आंदोलनों का समन्वय करके राष्ट्रीय स्वरूप देगा और अंग्रेजी हटाने के संकल्प को पूरा करेगा।

9. लोकभाषा संवर्धन के लिए स्थायी प्रयास की दृष्टि से रचनात्मक कार्यक्रमों को आकार देना जरूरी है। ये कार्यक्रम ऐसे होने चाहिए जिनमें स्थानीय भाषाओं का सार्वजनिक स्थान बढ़ाने तथा विभिन्न लोकभाषाओं के बीच भाईचारा बनाने के कार्य हों। इस सिलसिले में हम महात्मा गाँधी से प्रेरणा लेते हैं जिन्होंने असहयोग आंदोलन के दौरान कांग्रेस को एक नया संविधान देते हुए भाषाई क्षेत्रों की समितियों को आधारभूत ढाँचे में स्थान दिया। यह सम्मेलन विभिन्न भाषाई क्षेत्रों में **लोकभाषा भाईचारा मंच** बनाने का आग्रह रखता है। सम्मेलन वाराणसी में होने के चलते हम वाराणसी में एक लोकभाषा भाईचारा मंच बनाने के साथ इसकी शुरुआत करते हैं। इसका कार्यभार वर्तमान सम्मेलन की आयोजन समिति को सौंपा जाता है।

लोकभाषा होने पर तो गरीबों के लड़के भी अफसर बनने लगेंगे; और काले साहबों के बेटे-पोतों का अफसरी-एकाधिपत्य खतम हो जाएगा।'

–डॉ0 राममनोहर लोहिया

23 मार्च, 2018 को वाराणसी में आयोजित
अंग्रेजी हटाओ, भारतीय भाषा बचाओ
सम्मलन की सफलता के लिए
देश भर के मजदूरों की
शुभकामनाएँ

निवेदक :

गिरीश कुमार पाण्डेय

राष्ट्रीय मंत्री : **हिन्द मजदूर सभा**

महामंत्री : विद्युत मजदूर पंचायत, उ0प्र0

अध्यक्ष : महिला आँगनवाड़ी कर्मचारी संघ, उत्तर प्रदेश

अंग्रेजी हटाओ, भारतीय भाषा बचाओ सम्मेलन, वाराणसी की ओर से श्री योगेन्द्र नारायण द्वारा प्रकाशित और दी महावीर प्रेस, भेलूपुर द्वारा मुद्रित। अक्षर संयोजक : गौरी शंकर सिंह, संपादक : लोलार्क द्विवेदी